काव्य-चिंतन

(समीक्षात्मक निबन्धों का संकलन)

लेखक

डा० नगेन्द्र

एम० ए० डी० लिट०

प्रकाशक

नव भारती प्रकाशन, मेरठ

द्वितीयवार] १९५१ [मूल्य ३)

प्रकाशक :
नव भारती प्रकाशन .
मेरठ

मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक
इनसाइट प्रेस,
दिल्ली

काव्य-चिंतन

प्रस्तुत ग्रन्थ डा० नगेन्द्र के आलोचनात्मक निबंधों का संकलन है। डा० नगेन्द्र ख्यातनामा आलोचक होने के साथ २ अनुभवी अध्यापक भी हैं। मर्मज्ञ आलोचक होने के नाते उनमें काव्य के रस को ग्रहण करने की जितनी क्षमता है, कुशल अध्यापक होने के नाते उसको सर्व सुलभ बनाने की उतनी ही पटुता भी। स्वयं उन्हीं के शब्दों में 'आलोचक एक विशिष्ट रस-ग्राही पाठक है, और आलोचना उसको सर्व-सुलभ बनाने का प्रयत्न।' कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिभाषा उनकी आलोचना पर पूर्णतः घटित होती है।

प्रस्तुत संकलन में काव्य (साहित्य) के मूल तत्वों तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का मार्मिक विवेचन है। नगेन्द्र जी की सरस प्रसन्न शैली गहन से गहन तत्वों को भी अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ है। हमें विश्वास है कि इन निबंधों का अध्ययन हिन्दी के विद्यार्थी के ज्ञान-वर्धन और उससे भी अधिक रुचि-संस्कार में महत्व-पूर्ण योग देगा।

प्रकाशक

—क्रम—

१.	कवीन्द्र के प्रति	१
२.	साहित्य की प्रेरणा	३
३.	साहित्य और समीक्षा	११
४.	साहित्य में कल्पना का उपयोग	१९
५.	हिन्दी उपन्यास	२५
६.	प्रसाद के नाटक	३६
७.	गुलेरीजी की कहानियाँ	४६
८.	छायावाद की परिभाषा	५३
९.	प्रगतिवाद और हिन्दी साहित्य	६१
१०.	महादेवी की आलोचक-दृष्टि	७२
११.	श्यामसुन्दर दास की आलोचना-पद्धति	७९
१२.	प्रेमचन्द	८९
१३.	पन्त का नवीन जीवन-दर्शन	१०१
१४.	राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास	१२२
१५.	दिनकर के काव्य सिद्धान्त	१३०
१६.	हिन्दी की प्रयोगवादी कविता	१३६

: १ :

कवीन्द्र के प्रति

—एक प्रशस्ति—

कविगुरो ! तुम्हारा ध्यान आते ही मेरे सम्मुख एक विराट् पुरुष-मूर्ति का चित्र उपस्थित हो जाता है जो भारत के कन्धों पर खड़ी हुई समस्त विश्व का आलिंगन करने के लिए बाहें पसार रही है।

तुम्हारे व्यक्तित्व को भारत ने बड़ी ममता से अपने अनेक उपकरणों से गढ़ा था। उसने तुम्हें अपनी आनन्दमयी आत्मा, अपना गहन रहस्य-दर्शी मस्तिष्क और सबसे अधिक अपना भावोष्ण हृदय दिया था। तुम्हारा व्यक्तित्व भारत की विराट् संस्कृति का प्रतीक था—उसमें वेदों का भय-श्रद्धा समवेत विस्मय, उपनिषद् की अतल जिज्ञासा, वैष्णव-धर्म की तीव्र भक्ति-भावना और आधुनिक युग का अदम्य विद्रोह था। भारत ने अपना सत्य शिव-सुन्दर तुम में साकार कर दिया था।

सत्य-द्रष्टा ! तुम्हारी पारदर्शिका आँखें जग के भौतिक आवरण को भेदती हुईं उसके अन्तर-तत्वों पर जाकर टिकती थीं। तुमने विश्व की सत्ता को अखण्ड रूप में प्राप्त कर जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया। तुम्हारी आप्तवाणी आज की भौतिकता के विरुद्ध एक ललकार थी। तुमने पदार्थ का तिरस्कार न करके उसी की दिव्यता का प्रतिपादन किया—भोग की स्वर्गिक महिमा का गान करने वाले तुम पहले ऋषि थे।

शिव-संकल्प ! तुमने पूर्व और पश्चिम को अपने अमर-स्वरों में बाँध दिया, और देश-देश में खण्डित मानवता को पुनः समन्वित करके विश्व-मानव का निर्माण किया, जिसकी आत्मा में पूर्व की तपस्या और शरीर में पश्चिम की कला थी। कञ्चन के महलों में रहकर तुमने धूलि-शायी की पीड़ा का अमर गान किया—पद-दलित और त्रस्त मानवता तुम्हारी वाणी को सुनकर आश्वस्त हो गई।

सौन्दर्य-स्रष्टा ! तुम्हारी सृष्टि में रूप का पारावार हिलोरें ले रहा है। विश्व-कामिनी ने मानों वाञ्छित आराधक पाकर अपने अङ्ग-अङ्ग का सौन्दर्य-रहस्य तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया और तुम्हारी आत्मा उसका पानकर

रूप-विह्वल हो उठी। अर्चना समाप्त कर ज्योंही तुमने अपनी छवि-मंदिर दृष्टि का उन्मेष किया, वसुधा का कण-कण स्वर्ग के सौन्दर्य से जगमगा उठा।

युग-पुरुष! संसार ने तुम में युग-धर्म का साक्षात् दर्शन किया। भारत का प्राचीन और नवीन तुम्हारे व्यक्तित्व में एकरूप होकर उसके लिए अपना सन्देश बन गया। घर में ही माँ की बन्दिनी-मूर्ति देख तुम्हारा अन्तर्बाह्य काँप उठा, और तुम्हारी प्रताड़ित-आत्मा का चीत्कार दुर्धर-सींकचों को हिलाने लगा—"इस मृत्यु का उच्छेद करना ही होगा, इस भय-पाश का कृतान करना होगा—यह एकत्र हुई जड़ की राशि मृत-निस्सार पदार्थ दूर करना होगा"—और अन्त में गौरव-दीप्त मस्तक ऊँचा कर तुमने यह घोषणा कर ही दी—"हे दिव्यधामवासी देवताओ, तुम्हारी तरह हम भी अमृत के पुत्र हैं—हम भी अमृत के पुत्र हैं।"

भारतीय जागरण के अग्रदूत! तुम प्राची के आँगन में बाल-रवि के समान उदित हुए, तुम्हारी प्रखर किरणों ने भारत के जड़ी भूत अन्धकार को विदीर्ण कर दिया—ज्यों-ज्यों तुम अपना स्वर ऊँचा करते गये हमारे रूढ़ि-बन्धन शिथिल होते गये। हमारे जागरण का इतिहास तुम्हारे ही विकास का तो इतिहास है। भारतीय जीवन के एक विशाल युग पर तुम्हारा व्यक्तित्व प्रसरित है। हमारे युग ने अपनी जाग्रति के शैशव में तुम्हारे ही जागरण-गान गाये, यौवन में तुम्हारी ही रस-स्नात रचनाओं का आनन्द लिया और प्रौढ़ा-वस्था में, हे मर्मी, तुमने ही उसे आत्मा का रहस्य-चिंतन सिखाया। देश के एक विस्तृत भूभाग के हँसने और रोने में, करुणा और क्रोध में, प्रेम और घृणा में तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनि अब भी गूँजती है।

आज जब तुम्हारे ही अपने शब्दों में—रक्तवर्ण मेघों में शताब्दियों के सूर्य अस्त हो गये हैं, जब हिंसा के उत्सव में अस्त्रों की झंकार के साथ-ही-साथ मृत्यु की भयङ्कर उन्माद-रागिणी बज रही है, जब भद्र-वेशिनी बर्बरता पङ्क-शय्या से जगकर उठी है, जब कवियों का स्वर श्मशान-श्वानों की छीना-झपटी के गीत अलाप रहा है, हे विश्व-शान्ति के गायक, तुम्हारे स्वर सदा के लिए मौन हैं। आज तुम्हारी विश्व-प्रिया अर्द्धनग्न होकर, दोनों बाहें शून्य में पसारे हुए रक्तार्द्र स्वरों में कह रही है : "जेते नाही देबे"—तुम्हें न जाने दूँगी! तुम्हें नहीं जाने दूँगी!

: २ :

साहित्य की प्रेरणा

कविता-पाठ समाप्त कर ज्यों ही कवि ने अपना स्थान ग्रहण किया, रस-विमुग्ध सुन्दरी बोल उठी, "इन कविताओं की प्रेरणा तुमको कहाँ से मिलती है, कवि ?"

कवि ने सुन्दरी के आर्द्र-आयत नयनों की ओर एक बार दृष्टि उठाई, फिर चुप हो गया। कुछ देर प्रतीक्षा करने के बाद सुन्दरी ने प्रश्न को फिर से दुहराया।

इस बार कवि सुन्दरी के नेत्रों में दृष्टि गड़ाये उनकी ओर तब तक देखता रहा जब तक कि उसकी आँखें पूर्णतः वाष्प-धूमिल न हो गईं; लेकिन मुँह से बोला कुछ भी नहीं।

सुन्दरी का कौतूहल और उत्कण्ठा अब और भी बढ़ गयी। उसने तीसरी बार फिर उत्तर के लिए आग्रह किया। इस मधुर आग्रह को कवि अब और न टाल सका। बोला, "सुन्दरी, उत्तर तो तुम्हें मेरी इन आँखों ने दे ही दिया। लेकिन शायद तुम उसे समझी नहीं। तो सुनो : अभी तुम ने देखा कि तुम्हारी आँखों को देखते देखते मेरे मन के गहन स्तरों में सोयी हुई वासना-रूप पीड़ा एक साथ द्रवित होकर आँखों में आ गयी—मेरी कविता के स्फुरण की ठीक यही कहानी है। सौन्दर्य के उद्दीपन से जब जीवन के सञ्चित अभाव अभिव्यक्ति के लिए फूट पड़ते हैं तभी तो कविता का जन्म होता है। कविता के उद्रेक के लिए सौन्दर्य का उद्दीपन अर्थात् आनन्द और अभाव की पीड़ा दोनों का संयोग अनिवार्य्य है—अभाव की पीड़ा में जब मुझे माधुर्य की अनुभूति होने लगती है तभी मेरे मानस से कविता की अद्भूति होती है—केवल आनन्द या केवल पीड़ा कविता की सृष्टि नहीं कर सकती। मैं बस इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक जानने की इच्छा हो तो (सामने बैठे श्वेतजटाश्मश्रु आचार्य की ओर संकेत करते हुए कहा) गुरुदेव की शरण लो।"

सुन्दरी की जिज्ञासा अभी पूर्णतः शान्त नहीं हो पाई थी, निदान उसने आचार्य की ओर जिज्ञासु दृष्टि से देखा।

आचार्य ने ईषत् हास्य के साथ कहना शुरू किया : "कवि ने स्वयं अपनी प्रेरणा की जितनी सुन्दर व्याख्या की है उतनी मेरी शक्ति से बाहर है, परन्तु मैं समझता हूँ कि शायद कवि की कविता के बाद तुम्हें आचार्य के गद्य की भी आवश्यकता है। अच्छा सुनो, हमारे शास्त्र में काव्य की प्रेरणा का सीधा व्याख्यान नहीं मिलता। यह तो नहीं माना जा सकता कि भारतीय साहित्यकार उससे सर्वथा अपरिचित था। उदाहरण के लिए कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जन-श्रुति ही इसका अकाव्य प्रमाण है—

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्।

इसमें काममोहित अवस्था में क्रौञ्च के वध से उत्पन्न करुणा की प्रेरणा स्वीकृत की गई है—साधारण वध से उत्पन्न करुणा की नहीं—अर्थात् इस करुणा में काम का अन्तसूंत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारा साहित्यकार यह जानता था कि करुणा और काम अर्थात् अभाव और आनन्द के संयोग से काव्य का जन्म होता है। परन्तु फिर भी वैधानिक रूप से भारतीय-साहित्य-शास्त्र में केवल काव्य-प्रयोजन और काव्य-हेतु की ही चर्चा है। इन दोनों के विवेचन में से ही हमें प्रेरणा-विषयक संकेत ढूँढने होंगे।

काव्य के मुख्य प्रयोजन दो हैं : श्रोता या पाठक के लिए प्रीति और कवि के लिए कीर्ति।

'प्रीति करोति कीर्तिं च साधु काव्य निषेवणम्।'

प्रीति का अर्थ है आनन्द, जीवन में रस, और श्रोता के लिए यही मुख्य है—

कवि के लिए यश और अर्थ, और इसके साथ ही शिवेतर का क्षय भी काव्य-प्रेरणा का कार्य करता है। इनमें शिवेतर का क्षय तो आज के बेचारे कवि के लिए सम्भव नहीं है। यह सुनकर कि गङ्गा लहरी की रचना से संस्कृत के पण्डितराज जगन्नाथ और हिन्दी के पद्माकर का कोढ़ ठीक हो गया था, हमारे एक मित्र ने काफ़ी मनोयोग से अपनी प्रेमिका को पाने के लिए काव्य-रचना की, परन्तु आखिर उन्हें अदालत की कार्यवाही काव्य-रचना की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ी। अर्थ और यश से प्रेरित होकर आज भी लोग लिखते ही हैं, परन्तु ये दोनों तो बड़े उथले साधन हैं। किसी कवि को लिखने की साधारण प्रेरणा तो ये दे भी सकते हैं, परन्तु रस-सृष्टि करने की प्रेरणा इनमें कहाँ? यह ठीक है कि बिहारी जैसे कवियों को एक दोहे के लिए एक मुद्रा का वचन मिला हो; परन्तु मुद्रा की प्रेरणा केवल दोहे की

रचना-मात्रके लिए ही उसको उत्साहित कर सकी होगी। यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आन्तरिक है, परन्तु फिर भी यश की लालसा और रस-सृजन की प्रवृत्ति दोनों का तादात्म्य कर देना सर्वथा असङ्गत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरान्त काव्य-हेतुक में प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं—शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इनके व्याख्यान में भी संस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नहीं के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं। भामह और भट्टतौत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं—अभिनव गुप्त प्रज्ञा। इन तीनों में भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है। और स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा मनका वह जन्मान्तर्गत संस्कारविशेष है जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विषय में अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन कर सशक्त शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए शास्त्र, कला, नीति, काम, इतिहास, राजनीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलङ्कार, छन्द, साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम वास्तव में यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभावान् व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्वों को सञ्चित कर उनको इस प्रकार संघटित करना कि संघटित होते ही उनमें आप से आप रस का सञ्चार हो जाय जिस प्रकार भूतवादियों के मतानुसार जीव-सृष्टि में होता है। यह कवि-कर्म के बाह्य रूप की व्याख्या है, क्रिया में संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नहीं है।

संस्कृत-शास्त्र के तत्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रस-ग्राही पाठक की मनःस्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सृजेता के मनो-विश्लेषण पर खर्च नहीं किया। उसने यह तो बड़ी सफ़ाई से ढूँढ निकाला कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का अभिनय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन में स्थित वासना-रूप रति उद्बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाती है, परन्तु इसके आगे एक दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नहीं किया—कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण, जो सहृदय की वासना को उद्बुद्ध कर रस रूप

रचना-मात्रके लिए ही उसको उत्साहित कर सकी होगी। यही यश के लिए भी कहा जा सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि यश की प्रेरणा अर्थ की प्रेरणा की अपेक्षा सूक्ष्म और आन्तरिक है, परन्तु फिर भी यश की लालसा और रस-सृजन की प्रवृत्ति दोनों का तादात्म्य कर देना सर्वथा असङ्गत होगा। काव्य-प्रयोजन के उपरान्त काव्य-हेतुक में प्रेरणा की व्याख्या खोजने से भी कोई विशेष लाभ नहीं होता। काव्य के जो तीन हेतु सर्वमान्य हैं—शक्ति,' निपुणता और अभ्यास—इनके व्याख्यान में भी संस्कृत के आचार्यों ने प्रेरणा का विवेचन लगभग नहीं के बराबर ही किया है। शक्ति के भिन्न भिन्न नाम हैं। भामह और भट्टतौत आदि इसे प्रतिभा कहते हैं—अभिनव गुप्त प्रज्ञा। इन तीनों में भी प्रतिभा मुख्य है। प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी और अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा कहा गया है। और स्पष्ट शब्दों में प्रतिभा मनका वह जन्मान्तर्गत संस्कारविशेष है जिसके द्वारा कवि अपने वर्ण्य विषय में अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन कर सशक्त शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। निपुणता या व्युत्पत्ति प्राप्त करने के लिए कवि का अनुभव और ज्ञान विस्तृत होना चाहिए—उसके लिए शास्त्र, कला, नीति, काम, इतिहास, राजनीति आदि की अपेक्षा होती है। अभ्यास से तात्पर्य है रचना-अभ्यास का—अलङ्कार, छन्द, साहित्य-शास्त्र के अनुशीलन और प्रयोग का। शास्त्रीय विवेचन से परिणाम वास्तव में यह निकलता है कि हमारे आचार्यों के अनुसार कवि एक व्युत्पन्न प्रतिभावान् व्यक्ति है और उसका कर्म है जीवन के क्षेत्र में से रागात्मक तत्वों को सञ्चित कर उनको इस प्रकार संघटित करना कि संघटित होते ही उनमें आप से आप रस का सञ्चार हो जाय जिस प्रकार भूतवादियों के मतानुसार जीव-सृष्टि में होता है। यह कवि-कर्म के वाह्य रूप की व्याख्या है, क्रिया में संलग्न कवि के मानस का विश्लेषण नहीं है।

संस्कृत-शास्त्र के तत्ववेत्ता ने जितना परिश्रम रस-ग्राही पाठक की मनःस्थिति का विश्लेषण करने में किया है उसका एक सूक्ष्मांश भी रस-सृजेता के मनो-विश्लेषण पर खर्च नहीं किया। उसने यह तो बड़ी सफ़ाई से ढूँढ निकाला कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का अभिनय या मानसिक चित्र देखकर सहृदय के मन में स्थित वासना-रूप रति उद्‌बुद्ध होकर रस में परिणत हो जाती है, परन्तु इसके आगे एक दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य का विश्लेषण उसने विशेष रूप से नहीं किया—कि दुष्यन्त और शकुन्तला की रति का इतना सशक्त और तीव्र चित्रण, जो सहृदय की वासना को उद्‌बुद्ध कर रस रूप

में परिणत कर सके कवि के लिए किस प्रकार सम्भव होता है। यहाँ उसको काव्य-प्रेरणा का मौलिक विवेचन करने की आवश्यकता पड़ती, और वह निश्चित ही कवि के व्यक्तित्व में उसे ढूँढ निकालता। उसके लिए इस परिणाम पर पहुँच जाना कठिन नहीं था कि ऐसा करने के लिए कवि को भी उसी मानसिक स्थिति में से गुज़रना आवश्यक है—और वास्तव में भट्टतौत ने तो कहा भी था कि 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' —परन्तु विधान-रूप में उसे स्वीकृत नहीं किया गया। बस, यहीं वह चूक गया और स्थूलतः प्रतिभा-निपुणता आदि में इस प्रश्न का अकाट्य समाधान पाकर अपने विवेचन को अधूरा छोड़ गया। और इसका एक बहुत बड़ा कारण था—वह यह कि भारतीय परम्परा अखण्ड रूप से काव्य के केवल निर्वैयक्तिक रूप को ही मानती रही—यदि ऐसा न होता तो भट्टनायक या अभिनव जैसे अतलदर्शी तत्वज्ञों के लिए यह समस्या विशेष जटिल नहीं थी।

पश्चिम में काव्य-शास्त्र और मनोविज्ञान दोनों में साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति-विषयक चर्चा मिलती है। पहले साहित्य-शास्त्र के पण्डितों के सिद्धान्तों को लीजिए। वहाँ के आदि-आचार्य अरस्तू ने अनुकरण की प्रवृत्ति को काव्य की मूल प्रेरणा कहा है। उनका कथन है कि जो प्रवृत्ति बालक को अपने माता-पिता आदि की भाषा, व्यवहार आदि का अनुसरण करने के लिए प्रेरित करती है, वही प्रवृत्ति मानव को साहित्य-रचना की भी प्रेरणा देती है। यह बहुत ही आरम्भिक विचार था और आज इसको प्रायः कोई नहीं स्वीकार करता। साहित्य या कला अनुकरण-मात्र नहीं है, आनन्दपूर्ण सृजन है।

दूसरा सिद्धान्त मानव के जन्म जात सौन्दर्य-प्रेम को उसकी आत्म-प्रदर्शन और अनुकरण-प्रवृत्ति को साहित्य की मूल-प्रेरणा मानता है। मानव-आत्मा ज्ञान के चिर-सौन्दर्य से उद्भासित है, उसी को वह विभिन्न रूप में व्यक्त करती रहती है, जिनमें सबसे प्रत्यक्ष और सहजरूप है साहित्य एवं कला। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा में आनन्द का जो स्रोत आविर्भूत होता है उसी का उच्छलन कविता है। काव्य-प्रेरणा का यह रहस्यात्मक सिद्धान्त पूर्व और पश्चिम में अत्यन्त लोक-प्रिय और मान्य रहा है। विदेश में हीगेल का नाम इसके साथ सम्बद्ध है।

तीसरा प्रमुख सिद्धान्त है क्रोचे का अभिव्यंजनावाद, जिसके अनुसार काव्य शुद्ध सहजानुभूति है। संसार में आकर मानव अपने से बाहर

जगत की सहजानुभूति प्राप्त करने के लिए अर्थात् जगत के संसर्ग से मन में उत्पन्न होने वाली अरूप झंकृतियों को रूप देने के लिए जितने प्रयत्न करता है काव्य या कला उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही मानव-आत्मा को अनात्म की भव्यतम सहजानुभूति होती है। स्पष्ट शब्दों में इसका अर्थ यह है कि मानव-मन में जगत के नाना पदार्थों के प्रतिक्रिया-रूप अनेक छाया-चित्र घूमते रहते हैं, अनुभूति के कुछ विशेष क्षणों में उनको अभिव्यक्त करना उसके स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य्य हो जाता है। अभिव्यक्ति की यही अनिवार्य्यता काव्य या कला की जननी है; साहित्य को सृजन की आवश्यकता मानने वाला सिद्धान्त इसी मूल सिद्धान्त की एक शाखा-मात्र है।

काव्य-शास्त्रियों के ये सिद्धान्त बहुत-कुछ सङ्गत और सूक्ष्मान्वेषी होते हुए भी आत्यन्तिक नहीं हैं। वे एकदम मूलतक नहीं पहुँच पाते। यों कहिए कि वे सभी मूल से एक संस्थान आगे से चलते हैं। धुर-मूल तक पहुँचने के लिए हमें मनोवैज्ञानिकों की शरण लेनी होगी।

सबसे प्रथम सिद्धांत फ्रॉयड का है। वह कला या साहित्य को अभुक्त काम की प्रेरणा मानता है। उसके अनुसार काव्य और स्वप्न का एक ही मूल है: हमारा अन्तर्मन, हमारी अतृप्त काम-वासना, जो स्वप्न के छाया-चित्रों का सृजन करती है, वही काव्य के भी भाव-चित्रों की जननी है। सिद्धान्त इस प्रकार है कि हमारी वासना को यदि प्रत्यक्ष जीवन में तृप्ति नहीं मिलती तो वह अन्तर्मन में जाकर पड़ जाती है और फिर ऐसी अवस्था में जब कि हमारा चेतन मन जागरूक नहीं होता, वह अपने को परितृप्त करने का प्रयत्न करती है। यह अवस्था या तो स्वप्न की अचेतनावस्था है या काव्य-सृजन की अर्ध-चेतनावस्था—तन्मयता की अवस्था है।

काम के दमन से स्वभाव में जो ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं उनमें सबसे मुख्य है मातृ-रति की ग्रन्थि जो न केवल स्वप्न और काव्य के अनेक स्थायी प्रतीकों की वरन् जीवन की अनेक प्रवृत्तियों की भी जननी है। ऑटोरैंक का कथन है कि संसार के साहित्य में जो मूल-कथाएँ हैं उनका आधार-सम्बन्ध इसी ग्रन्थि के विभिन्न रूपों से है। पूर्व और पश्चिम के पुराणों में तो स्थान-स्थान पर इसकी स्पष्ट स्वीकृति है ही—जैसे, ब्रह्मा और उसकी कन्या की कहानी में। प्रसिद्ध कलाकार लियोनार्दो द विञ्ची का मनोविश्लेषण करने में फ्रॉयड ने उसके शैशव की ऐसी ही एक फ्रैन्टैसी को अत्यधिक महत्व दिया है। विञ्ची ने अपने

बचपन की एक विचित्र काल्पनिक धारणा का उल्लेख किया है उसके मन में कुछ ऐसी धारणा बँध गयी थी एक बार जब वह पालने में लेटा हुआ था एक गृद्ध आकर उसके पास बैठ गया और अपनी पूँछ को बार-बार उसके मुँह में डालने निकालने लगा। इस कल्पना के आधार पर—अपने प्रतीक-सिद्धान्त के द्वारा फ्रॉयड ने निष्कर्ष निकाला कि उसकी वासना समकामिकता में अभिव्यक्त हुई थी और उसका प्रेम प्रेरक नहीं था प्रेरित था। इस प्रवृत्ति का मूल कारण यह था कि पिता के अभाव में उसकी मातृ-रति अत्यन्त जागृत हो गई थी जो उसे किसी भी स्त्री की ओर आकर्षित न होने देती थी। 'मोनालीसा' के चित्र में वह इसी मातृ-रति की अभिव्यक्ति देखता है।

फ्रॉयड का सिद्धान्त उसके जीवन-दर्शन से सम्बन्ध रखता है—वह तो काम को जीवन की ही मूल प्रेरणा मानता है। काम का अस्वस्थ दमन जीवन की विनाशात्मक क्रियाओं में और उसका स्वस्थ संस्कार जीवन की रचनात्मक संस्थाओं में अभिव्यक्त हो रहा है। मानव के सौंदर्य्य-प्रेम का उसकी काम-वृत्ति से, और हमारी सौंदर्य-भावना का हमारी प्रीति से, सहज सम्बन्ध है।

स्वस्थ रूप में तो काम का उपभोग न कर जब उसको चिन्तन में परिवर्तित कर दिया जाता है तो साहित्य की सृष्टि होती है; और अस्वस्थ रूप में, जैसा मैंने अभी कहा, काम अभुक्त रह कर साहित्य के मूलवर्ती भाव-चित्रों की सृष्टि करता है। साहित्य-शास्त्र का दूसरा सौंदर्य प्रेम को काव्य की मूल-प्रेरणा स्वीकार करने वाला सिद्धान्त बहुत कुछ इसी सिद्धान्त के अन्तर्गत आजाता है।

फ्रॉयड का समसामयिक और शिष्य ऑडलर, जो मानव की चिरन्तन हीनता की भावना को ही जीवनकी मूल-प्रेरणा मानता है, साहित्य के मूल-कीटाणु क्षति-पूर्ति की कामना में खोजता है। उसके अनुसार समस्त साहित्य हमारे जीवनगत अभावों की पूर्ति है : जो हमें जीवन में अप्राप्त है उसीको हम कल्पना में खोजते हैं। जीवन की क्षणिकता जीवन के अशिव और उसकी कुरूपताओं से हार मान कर ही तो भाव-कवि ने सत्य, शिव और सुन्दर की कल्पना की थी। वास्तव में हमारा आदर्श हमारी हीनता का ही तो प्रतिक्रिया रूप है। जीवन में त्रिविध-दुख की अनिवार्यता ही ब्रह्मानन्द कल्पना की जननी है। सामयिक जीवन में गो-ब्राह्मण का हनन करने वाले मुसलमानों के विरुद्ध विवश होकर ही तुलसी ने गो-ब्राह्मण-प्रतिपाल दुष्ट-दलन राम की कल्पना

की थी। प्रत्यक्ष जीवन में सौंदर्य-उपभोग से वंचित रह कर ही तो छायावादी कवि ने अतीन्द्रिय सौंदर्य के चित्र आँके। पलायन का चिर-परिचित सिद्धान्त इसी का एक प्रस्फुटन है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों को आंशिक सत्य मानते हुए एक तीसरे मनोविज्ञानी युंग ने जीवनेच्छा को ही जीवन की मूल प्रेरणा माना है। उसके अनुसार मानव के सम्पूर्ण प्रयत्न अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए ही होते हैं। पुत्र, वित्त और लोक की एषणाएँ जीवनेच्छा की ही शाखाएँ हैं। साहित्य भी इसी उद्देश्य-पूर्ति के निमित्त किया हुआ एक प्रयत्न है। जीवन अथवा अपने अस्तित्व—जीवन की गति—को अक्षुण्ण रखने के लिए यह ज़रूरी है कि हम अपने को अभिव्यक्त करते रहें। वैसे तो हमारी सभी क्रियाएँ हमारी प्राण-चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं, परन्तु साहित्य उसकी एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है, अन्य क्रियाओं की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और आन्तरिक। इस प्रकार साहित्य-शास्त्र का अभिव्यंजनावादी सिद्धांत युंग के सिद्धांत में ही अंतर्भूत हो जाता है।

इतना कह कर आचार्य मौन हो गये।

"पौरस्त्य और पाश्चात्य काव्य-सिद्धांतों का विवेचन सुन कर मैं धन्य हो गई महाराज।" सुन्दरी ने अपनी सहज कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा।

"परन्तु तुम्हारी आँखों के प्रश्नवाचक संकेत तो अब भी कह रहे हैं कि जिज्ञासा अभ अशेष नहीं हुई और तुम अभी मेरा अपना मन्तव्य सुनना चाहती हो।"

"गुरुदेव ने मेरा आशय ठीक ही समझा है", सुन्दरी ने उत्तर दिया।

"अच्छा, मेरा अपना मन्तव्य सुनो। यह तो मैं तुम से पहिले ही कह दूँ कि मेरा मन्तव्य कोई सर्वथा स्वतन्त्र मन्तव्य नहीं है—उपर्युक्त सिद्धांतों से पृथक उसका अस्तित्व नहीं है और न हो ही सकता है। मैं जीवन को अहं का जगत से या आत्म का अनात्म से संघर्ष मानता हूँ। इस संघर्ष की सफलता जीवन का सुख है और विफलता दुःख। साहित्य इसी संघर्ष के मानस-रूप की अभिव्यक्ति है। मानस-रूप की अभिव्यक्ति होने के कारण उसमें दुःख का अभाव होता है, क्योंकि संघर्ष की घोरतम विफलता भी मानस-रूप धारण करते करते अपना दंशन खो देती है। मैंने भी कविता लिखी है—मैं जब स्वयं अन्तमुर्ख होकर अपने से पूछता हूँ कि मैं क्यों लिखता हूँ, तो इसका उत्तर, यही पाता हूँ कि अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करना मेरे जीवन के लिए अनिवार्य है; और मेरा यह व्यक्तित्व मेरे राग-द्वेषों का,

जिन में से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह हैं। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्य करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका सम्बन्ध अभाव से है। क्योंकि अभाव में पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति में शान्त रहने की। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ; और चूँकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।"

"तो इसका अर्थ यह हुआ, गुरुदेव; कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है ?"

"हाँ भी और नहीं भी। हाँ इसलिए, कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण कर हमारे सामने न आये; और नहीं इसलिए, कि रूढ़ अर्थ में जिसे साहित्य कहते हैं वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है। विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से तीव्र हों—इतने तीव्र हों कि उसके आत्म और अनात्म के बीच होने वाला संघर्ष असाधारणतः प्रखर हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में या प्रवृत्ति और कर्तव्य में—अथवा फ्रॉयड की शब्दावली में अन्तर्चेतन और निरीक्षक-चेतन के बीच—जितना ही उत्कट संघर्ष होगा उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी।

इस प्रकार संक्षेप में मेरे निष्कर्ष ये हैं :—

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।

जिन में से अधिकांश काम-चेतना के प्रोद्भास हैं, संश्लिष्ट समूह है। मेरे इन राग-द्वेषों में भी उन्हीं को अभिव्य करने की उत्कट आवश्यकता होती है जिनका सम्बन्ध अभाव से है। क्योंकि अभाव में पुकारने की प्रेरणा होती है, पूर्ति में शान्त रहने की। इसका तात्पर्य यह है कि मैं कविता या कला के पीछे आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता हूँ; और चूँकि आत्म के निर्माण में काम-वृत्ति का और उसकी अतृप्तियों का योग है, इसलिए इस प्रेरणा में उनका विशेष महत्त्व मानना भी अनिवार्य समझता हूँ।"

"तो इसका अर्थ यह हुआ, गुरुदेव; कि प्रत्येक व्यक्ति साहित्य की रचना करता है?"

"हाँ भी और नहीं भी। हाँ इसलिए, कि अपने जीवन के विशिष्ट क्षणों में प्रत्येक व्यक्ति अवश्य साहित्य की सृष्टि करता है, चाहे वह कोई स्थिर आकार धारण कर हमारे सामने न आये; और नहीं इसलिए, कि रूढ़ अर्थ में जिसे साहित्य कहते हैं वह साधारण व्यक्तित्व की साधारण अभिव्यक्ति नहीं है, विशेष व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति ही है। विशिष्ट व्यक्तित्व का अर्थ उस व्यक्ति से है जिसके राग-द्वेष असाधारण रूप से तीव्र हों—इतने तीव्र हों कि उसके आत्म और अनात्म के बीच होने वाला संघर्ष असाधारणतः प्रखर हो। ऐसा ही व्यक्ति प्रतिभावान् कहलाता है—जिस व्यक्ति के अहं और वातावरण में या प्रवृत्ति और कर्तव्य में—अथवा फ्रॉयड की शब्दावली में अन्तर्चेतन और निरीक्षक-चेतन के बीच—जितना ही उत्कट संघर्ष होगा उसकी प्रतिभा भी उतनी ही प्रखर होगी और उतनी ही प्रखर उसकी सृजन की प्रेरणा भी।

इस प्रकार संक्षेप में मेरे निष्कर्ष ये हैं :—

(१) काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति की ही प्रेरणा है।

(२) यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग—अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से ही उद्भूत होती है। कहीं बाहर से जानबूझ कर प्राप्त नहीं की जा सकती।

(३) हमारे आत्म का निर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उनमें काम-वृत्ति का प्राधान्य है, अतएव हमारे व्यक्तित्व में होने वाला आत्म और अनात्म का संघर्ष मुख्यतः काममय है, और चूँकि ललित साहित्य तो मूलतः रसात्मक होता है, उसकी प्रेरणा में काम-वृत्ति की प्रमुखता असंदिग्ध ही है।

: ३ :

साहित्य और समीक्षा

साहित्य का जीवन से दुहरा सम्बन्ध है : एक क्रिया रूप में, दूसरा प्रतिक्रिया रूप में। क्रिया रूप में वह जीवन की अभिव्यक्ति है, सृष्टि है; प्रतिक्रिया रूप में उसका निर्माता और पोषक है। जिस प्रकार एक सुपुत्र अपने पिता से जन्म और पोषण पाकर उसकी सेवा और रक्षा करता है, इसी प्रकार सत्साहित्य भी जीवन से प्राण और रक्त-मांस ग्रहण कर फिर उसको रस प्रदान करता है। जीवन की मूल भावना है आत्म-रक्षण, जिसे मनोवैज्ञानिकों ने जीवनेच्छा कहा है। आत्म-रक्षण के उपायों में सबसे प्रमुख उपाय आत्माभिव्यक्ति ही है। अतः क्रिया रूप में साहित्य आत्म-रक्षण अथवा जीवन का एक सार्थक प्रयत्न है। यही अभिव्यक्ति जब ज्ञान-राशि का सञ्चित कोष बन जाती है तब प्रतिक्रिया रूप में मानव-जीवन का पोषण और निर्माण करती है।

—उपयोगिता का प्रश्न—

जैसा मैंने अभी कहा, मनुष्य की समस्त क्रियाएँ आत्म-रक्षण के निमित्त होती हैं, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, सही या ग़लत, उनका यही उद्देश्य होता है–और वास्तव में उनकी सार्थकता भी इसी में है। अतएव हमारे प्रयत्नों का मूल्य आँकने की कसौटी यही है कि वे आत्म-रक्षण में कहाँ तक सार्थक होते हैं। यहाँ आत्म का अर्थ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आत्म-रक्षण का तात्पर्य उस स्वार्थबुद्धि से नहीं है जो अपने में ही संकुचित रहती है। सचमुच आत्म-रक्षण की परिधि में समाज, देश, विश्व सभी कुछ आ जाता है। अपनी रक्षा के लिए व्यक्ति को अपने वातावरण और परिस्थिति से सामञ्जस्य स्थापित करना अनिवार्य है। व्यापक रूप में जो कुछ धर्म की परिधि में आता है वही सब आत्म रक्षण की परिधि में भी आजाता है क्योंकि धर्म उन सभी प्रयत्नों की समष्टि है जो जीवन को धारण किए रहने के निमित्त होते हैं–ध्रियतेः यः सः धर्मः। अतएव हमें प्रत्येक क्रिया या वस्तु का मूल्य परखने के लिए एक बात देखनी चाहिए: वह कहाँ तक धर्मानुकूल है, अर्थात् कहाँ तक जीवन के जीने में उपयोगी है ?

जहाँ तक इस कसौटी का प्रश्न है, हमारी धारणा है कि इस विषय में आस्तिक-नास्तिक, विश्वासी-वैज्ञानिक, प्रगतिवादी और प्रतिक्रियावादी किसी को भी मतभेद न होगा। परन्तु उपयोगिता की परीक्षा सब एक ढङ्ग से

न कर सकेंगे। उपयोगिता का एक तो स्थूल और प्रत्यक्ष रूप है जिसको पकड़ लेना सहज-सुलभ है। प्रत्येक युग का स्थूल-द्रष्टा सुधारक सदैव ही इसीको लेकर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देता रहा है—द्विवेदी-युग में साहित्य का यही रूप ग्रहण किया गया था। उस समय लोगों के पास कुछ मोटे-मोटे नैतिक सिद्धान्त थे जिनके अनुसार साहित्य को परख कर वे उस पर सत् और असत् का लेबिल लगा देते थे। यह मूल्यांकन किस प्रकार थोड़ा लाभ और अधिक हानि करता है इसका ज्वलन्त प्रमाण है उस समय का साहित्य, जिसका महत्व आज प्रायः ऐतिहासिक ही रह गया है। इसके विपरीत उपयोगिता का एक सच्चा और सूक्ष्म रूप भी है जिसको देखने के लिए मोटी नज़र काम नहीं देती। बाहर से देखने पर जो बात अत्यन्त जीवनप्रद मालूम पड़ती है वह अपने आत्यन्तिक रूप में जीवन का गतिरोध करती है, ऐसा हम प्रायः देखते हैं। उदाहरण के लिए अपने पिछले सुधार-युग-साहित्य में जो द्विवेदी-युग है समाज में वही सुधार-युग—का जीवन लिया जा सकता है। नीति की चर्चा करते-करते किस प्रकार उस जीवन में दम्भ, पाखण्ड और असहानुभूति का प्रवेश होगया यह कोई रहस्य नहीं है। अतएव उपयोगिता को हमें गहराई में जाकर देखना चाहिए और परखना चाहिए उसका स्थायी मूल्य, न कि तात्कालिक मात्र।

वस्तु का स्थायी महत्व बहुत कुछ उसकी आनन्ददायिनी शक्ति पर निर्भर रहता है। जो आनन्ददायक है वह उपयोगी है ही, इसी बात को भूल कर आलोचक प्रायः सुन्दर से सुन्दर साहित्य के प्रति अन्याय कर बैठता है। हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य की उपेक्षा इसका एक प्रमाण है। 'कला कला के लिए है' और 'कला जीवन के लिए है', इन दोनों सिद्धांतों में जो द्वंद्व-युद्ध चलता वह बहुत कुछ इसी भूल के कारण। 'कला कला के लिए है' सिद्धांत का प्रतिपादक भी वास्तव में शुद्ध आनन्द को ही कला का उद्देश्य मानता है, उधर कला को जीवन की परिचारिका मानने वाला सम्प्रदाय भी उसके द्वारा पहले आनन्द ही खोजता है। इसके प्रमाण में स्वयं ऑस्कर वाइल्ड और रस्किन के अनेक उद्धरण पेश किये जा सकते हैं। आनन्द की उपेक्षा कर कला जीवित नहीं रह सकती। स्थूल के स्थूल रूप में भी उसकी सार्थकता 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' में ही है। अतएव काव्य की कसौटी है उसकी शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति जिसे अपने शास्त्रों ने रस कहा है। रस का अर्थ व्यापक रूप में आनन्द से चलकर जीवन-पोषक तत्त्व तक है: चरक में

रस शब्द का यही तात्पर्य है। जीवन अथवा आनन्द मनुष्य क्या, प्राणि-मात्र का चिरन्तन लक्ष्य है। समय के अनुसार उसका वाह्य सदैव बदलता रहा है—जीने की विधि बदलती है, परन्तु जीना (आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना) तो निश्चय ही एक शाश्वत सत्य है—इसको घोर से घोर अशाश्वतवादी भी अस्वीकृत नहीं कर सकता।

यह मान लेने पर कि कला कृतियों का सापेक्षिक महत्त्व उनकी आनन्द-दायिनी शक्ति पर आश्रित है दो प्रश्न उठते हैं : आनन्द का परिमाण कौन निश्चय करे ? और कैसे करे ? 'कौन' का उत्तर है : अधिकारी भोक्ता या अनुभव-कर्त्ता, जिसकी मैं निश्चित विशेषताएँ मानता हूँ संवेदनशीलता और संस्कृत-शिक्षित रुचि। काव्य का जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति एक विशेष माध्यम है और एक विशेष शैली। अर्थात् वह जीवना-भिव्यक्ति की एक विशेष कला है जिसका अपना पृथक् रूप है, अपने पृथक् लक्षण-नियम हैं, और इनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला व्यक्ति ही उसका निर्णय करने का अधिकारी है। जीवन की विभिन्न विद्याओं और कलाओं की भाँति ही वह अधिकारियों की, विशेषज्ञों की वस्तु है, जनसाधारण की नहीं। दूसरा प्रश्न है : कैसे करे ? तो विशेषज्ञ के लिए कला-कृतियों का सापेक्षिक महत्त्व आँकना, सूक्ष्म शब्दों में आनन्द का परिमाण आँकना कठिन नहीं है। उसके लिए सबसे निर्भ्रान्त मार्ग है पहले यह देखना कि कृति का कर्ता कहाँ तक उसमें अपने व्यक्तित्व को अनुदित अर्थात् लय कर सका है और फिर यह भी देखना कि व्यक्तित्व अपेक्षाकृत कितना प्राणवान् है। अधिक प्राणवान् व्यक्तित्व का पूर्ण अनुवाद या लय कम प्राणवान् व्यक्तित्व के पूर्ण लय की अपेक्षा गुरुतर कार्य है, स्वभावतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द अधिक सशक्त और परिपक्व होगा और कृति का महत्त्व भी गुरुतर होगा। कला का मूल्य कलाकार के आत्माभिव्यंजन पर निर्भर है : उसका आत्म जितना प्राणवान् और जितना निष्कपट, तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा, कला उतनी ही रसवती और जीवनप्रद होगी। हाँ, रस की अनुभूति और अभिव्यक्ति के विषय में थोड़ा विवाद उठ सकता है। अनुभूति के लिए तो कोई निश्चित सिद्धान्त बना देना कठिन है, परन्तु रसाभिव्यक्ति की शक्ति निश्चय ही कलाकार के आत्मभिव्यंजन पर निर्भर है। वह आत्माभिव्यंजन जितना निष्कपट तीव्र एवं सम्पूर्ण होगा कला उतनी ही रसवती होगी—वह एक प्राणवान् जीवन का जितना सफल अनुवाद होगी, उतनी ही जीवन-प्रद भी होगी।

अतः साहित्य की आत्मा है रस, और इसी रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।

—परीक्षण विधि—

अब हमें रस-परीक्षण की विधि का अध्ययन करते हुए उसके कुछ सिद्धान्तों को स्थिर करना है—ये ही वास्तव में समीक्षा के मूल सिद्धांत होंगे। रस की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूँ : इसका अर्थ है आनन्द। कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है, इसी के अनुसार उसकी रचना में भी आनन्द देने की शक्ति होगी—और आनन्द केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अभिप्राय है अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य।

धर्म की व्यवस्था करते हुए आचार्य ने उसके चार लक्षण बताये हैं : आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद (के अनुकूल)। ये चार बातें हमें आलोचना के मूल सिद्धान्त स्थिर करने में सहायक होंगी। सबसे पहली बात जो रस-परीक्षण के लिए आवश्यक है वह है आत्मनः प्रिय—कोई कृति आलोचक को स्वयं कैसी लगती है, उसका अध्ययन करने पर उसकी अपनी मानसिक तिक्रिया क्या होती है यह देखना। आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेषहीन होने का दावा क्यों न करे आलोचक की व्यक्तिगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमें प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव में साहित्य का अङ्ग बन सकती है। परन्तु 'आत्मनः प्रिय' का संकुचित अर्थ सत्य आलोचना के लिए उसी प्रकार घातक होगा जिस प्रकार धर्म के लिए। आचार्य जहाँ धर्म का लक्षण 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है वहाँ आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अंतःकरण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और संस्कृत होगा यह पहले से ही मानलिया गया है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसकी रसानुभूति तीव्र और अभिरुचि परिष्कृत होगी जो उसे बिना कठिनाई के सुन्दर और असुन्दर की पहिचान करा सकेगी। साथ ही वह केवल 'क्या सुन्दर है ?' यही देख कर सन्तुष्ट न हो जाएगा, वरन् यह भी जानने का प्रयत्न करेगा कि ऐसा क्यों है। 'क्यों का विवेचन उसे सीधा मनोविज्ञान और सौंदर्य-शास्त्र की ओर ले जाएगा। वह कलाकार का मनोविश्लेषण करता हुआ अपनी मनकी स्थिति

का भी अध्ययन करेगा और दोनों के बीच तारतम्य ढूँढकर किसी कला-कृति-विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उपस्थित करेगा। उधर सौंदर्य-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परन्तु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। आत्मनः प्रिय के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी, सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। सदाचार का अर्थ है: सतां आचारः—अर्थात् सज्जनों का आचार; और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरन्तन सत्य। इनमें दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष है। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनों का समाहार समाज शब्द में ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमें इनके अनुसार साहित्य का मूल्याङ्कन करते समय सावधानी से काम करना चाहिये। हमें समाज के वाह्य आवरण को चीर उसके मूल मानवीय अन्त-र्तत्त्वों को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी उस समय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामा-जिक प्रेरणाओं ने उसके निर्माण में योग दिया था, और फिर उन कारणों की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे सर्वथा भिन्न देश-काल के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं वह मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल साम-यिकता को कसौटी पर कसने की भूल न करेगा!

यहाँ एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक: सामाजिक? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है: दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी पूर्ण पर विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से

अतः साहित्य की आत्मा है रस, और इसी रस की परीक्षा करना आलोचना का उद्देश्य है।

—परीक्षण विधि—

अब हमें रस-परीक्षण की विधि का अध्ययन करते हुए उसके कुछ सिद्धान्तों को स्थिर करना है—ये ही वास्तव में समीक्षा के मूल सिद्धांत होंगे। रस की व्याख्या मैं ऊपर कर चुका हूँ : इसका अर्थ है आनन्द। कोई रचना रसवती तभी हो सकती है जब रचयिता उसमें अपने व्यक्तित्व को पूर्णतः अनूदित कर दे। अपने व्यक्तित्व का अनुवाद ही रचयिता के लिए सबसे बड़ा आनन्द है, इसी के अनुसार उसकी रचना में भी आनन्द देने की शक्ति होगी—और आनन्द केवल मनोरंजन नहीं है, उसका अभिप्राय है अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य।

धर्म की व्यवस्था करते हुए आचार्य ने उसके चार लक्षण बताये हैं : आत्मनः प्रिय, सदाचार, स्मृति और वेद (के अनुकूल)। ये चार बातें हमें आलोचना के मूल सिद्धान्त स्थिर करने में सहायक होंगी। सबसे पहली बात जो रस-परीक्षण के लिए आवश्यक है वह है आत्मनः प्रिय—कोई कृति आलोचक को स्वयं कैसी लगती है, उसका अध्ययन करने पर उसकी अपनी मानसिक तिक्रिया क्या होती है यह देखना। आलोचना कितनी ही वैज्ञानिक और राग-द्वेषहीन होने का दावा क्यों न करे आलोचक की व्यक्तिगत धारणा और प्रतिक्रिया उसमें प्रमुख कार्य करेगी ही। तभी वह वास्तव में साहित्य का अङ्ग बन सकती है। परन्तु 'आत्मनः प्रिय' का संकुचित अर्थ सत्य आलोचना के लिए उसी प्रकार घातक होगा जिस प्रकार धर्म के लिए। आचार्य जहाँ धर्म का लक्षण 'अपनी आत्मा को प्रिय होना' करता है वहाँ आत्मा से उसका तात्पर्य शुद्ध अविकृत अंतःकरण से है। इसी प्रकार आलोचक का आत्म भी शिक्षित और संस्कृत होगा यह पहले से ही मानलिया गया है। साधारण पाठक की अपेक्षा उसकी रसानुभूति तीव्र और अभिरुचि परिष्कृत होगी जो उसे बिना कठिनाई के सुन्दर और असुन्दर की पहिचान करा सकेगी। साथ ही वह केवल 'क्या सुन्दर है ?' यही देख कर सन्तुष्ट न हो जाएगा, वरन् यह भी जानने का प्रयत्न करेगा कि ऐसा क्यों है। 'क्यों का विवेचन उसे सीधा मनोविज्ञान और सौंदर्य-शास्त्र की ओर ले जाएगा। वह कलाकार का मनोविश्लेषण करता हुआ अपनी मनकी स्थिति

का भी अध्ययन करेगा और दोनों के बीच तारतम्य ढूँढकर किसी कला-कृति-विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उपस्थित करेगा। उधर सौंदर्य-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परन्तु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। आत्मनः प्रिय के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी, सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। सदाचार का अर्थ है: सतां आचारः—अर्थात् सज्जनों का आचार; और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरन्तन सत्य। इनमें दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष है। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनों का समाहार समाज शब्द में ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमें इनके अनुसार साहित्य का मूल्याङ्कन करते समय सावधानी से काम करना चाहिये। हमें समाज के बाह्य आवरण को चीर उसके मूल मानवीय अन्त-र्तत्त्वों को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी उस समय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामा-जिक प्रेरणाओं ने उसके निर्माण में योग दिया था, और फिर उन कारणों की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे सर्वथा भिन्न देश-काल के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं वह मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल साम-यिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा!

यहाँ एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक: सामाजिक? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है: दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी पूर्ण पर विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से

का भी अध्ययन करेगा और दोनों के बीच तारतम्य ढूँढकर किसी कला-कृति-विशेष के प्रिय अथवा अप्रिय लगने का कारण उपस्थित करेगा। उधर सौंदर्य-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र, जो मनोविज्ञान का ही एक अंग है, कृति के रूप का विवेचन करने में सहायता देगा, और वह अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति की प्रसादिनी अथवा अप्रसादिनी शक्ति का विश्लेषण भी कर सकेगा।

परन्तु अभी उसका कार्य अपूर्ण ही है। आत्मनः प्रिय के साथ धर्म की भाँति साहित्य के लिए भी, सदाचार, स्मृति और वेद के अनुकूल होना अनिवार्य है। सदाचार का अर्थ है: सतां आचारः—अर्थात् सज्जनों का आचार; और सज्जनों के आचार से तात्पर्य है सामाजिक हितों के अनुकूल व्यवहार। अतएव सत्साहित्य में केवल व्यष्टि के ही प्रसन्न करने का गुण नहीं, समष्टि के भी प्रसादन का गुण होता है। आगे है स्मृति—अर्थात् विधान—राष्ट्र-नियम, और उसके आगे है वेद—शाश्वत ज्ञान—चिरन्तन सत्य। इनमें दूसरा और तीसरा लक्षण बहुत सीमा तक काल-सापेक्ष है। समाज और राष्ट्र—आज हम इन दोनों का समाहार समाज शब्द में ही कर सकते हैं—का विधान समय के अनुसार बदलता रहता है, अतएव हमें इनके अनुसार साहित्य का मूल्याङ्कन करते समय सावधानी से काम करना चाहिये। हमें समाज के वाह्य आवरण को चीर उसके मूल मानवीय अन्त-र्तत्त्वों को पकड़ना पड़ेगा। ऐसा करने का एक सीधा उपाय है। किसी प्राचीन कलाकृति को लेकर पहले तो आलोचक यह स्पष्ट करे कि जिस समय आलोच्य वस्तु की रचना हुई थी उस समय समाज की क्या अवस्था थी—किन सामा-जिक प्रेरणाओं ने उसके निर्माण में योग दिया था, और फिर उन कारणों की छानबीन करे जिनके द्वारा एक देश-काल की कृति दूसरे सर्वथा भिन्न देश-काल के व्यक्तियों को प्रिय लगती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहीं वह मानवीय अन्तर्तत्त्वों को पकड़ लेगा और साहित्य को केवल साम-यिकता की कसौटी पर कसने की भूल न करेगा!

यहाँ एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है—साहित्य वैयक्तिक चेतना है या सामूहिक: सामाजिक? व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति से ही समाज बनता है: दूसरी ओर व्यक्ति समाज की एक इकाई भी है। फिर भी पूर्ण पर विचार करते हुए यदि दोनों का सापेक्षिक महत्व आँकें तो व्यक्ति की सत्ता समाज की सत्ता से

अधिक बलवती ठहरती है। वैसे तो व्यक्ति समाज का एक अंग है, और समाज पर निर्भर रहता है पर समय आने पर वह उसके ऊपर उठ सकता है, उसको उपेक्षित ही नहीं ओवरहॉल भी कर सकता है। संसार का इतिहास लक्ष-लक्ष कर उठाकर इस सत्य का समर्थन कर रहा है। समाज का अधिकांश जन-साधारण—मैं वर्ग की ओर संकेत नहीं कर रहा—से ही बना हुआ है और महान् साहित्य की सृष्टि साधारण प्रतिभा की शक्ति से बाहर है—महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा और उद्दीप्त क्षणों की अपेक्षा करता है—शेक्सपियर की 'फाइनफ्रेन्ज़ी' वाली उक्ति कोरी कविता नहीं है—वह एक स्वानुभूत सत्य है। व्यक्ति की चेतना पर समाज, देश का प्रभाव पड़ता है और खूब पड़ता है, परन्तु यह कहना कि रवीन्द्रनाथ के सम्पूर्ण साहित्य का श्रेय केवल उनके सामन्तीय वातावरण और पूँजीवाद को ही है अथवा कबीर की कविता के लिए केवल उनका हीन जाति में जन्म होना ही उत्तरदायी है, छिछली वर्ग-वृत्ति का परिचय देना है।

—आलोचना के प्रचलित सम्प्रदाय—

आज आलोचना के कई सम्प्रदायों के नाम सुनाई देते हैं। इनमें तीन मुख्य हैं :

[१] प्रभाववादी [२] शास्त्रीय और [३] वैज्ञानिक।

इनमें सबसे अधिक बदनाम हैं प्रभाववादी सम्प्रदाय। आज एक आलोचक दूसरे को हीन प्रमाणित करने के लिए उसे फौरन इम्प्रेशनिस्ट कह देता है। परन्तु वास्तव में आलोचना की पहली सीढ़ी है प्रभाव ग्रहण करना। उसकी बहुत कुछ शक्ति इन प्राथमिक प्रभाव-प्रतिबिम्बों पर निर्भर रहती है। फिर भी उसका कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। 'कैसा है?' के साथ ही यदि वह 'क्यों है?' की व्याख्या नहीं करती तो आलोचक की अपनी प्रतिक्रियाओं का महत्त्व रहने पर भी, उसकी आलोचना हलकी और स्केची होगी, उसमें आश्वस्त करने की शक्ति नहीं होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि पाठक अपनी अभिरुचि के अनुसार तुरन्त ही उनका ग्रहण या त्याग कर देगा। 'क्यों है?' की व्याख्या जैसा मैं पीछे कह आया हूँ स्वभावतः मनोविज्ञान, सौंदर्य-शास्त्र, और साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा करेगी और आलोचक को शास्त्रीय शैली का भी आदर करना ही पड़ेगा! वास्तव में व्याख्या करने के लिए, आश्वस्त करने के लिए, आलोचना की शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन

अनिवार्य है—आलोचना में गांभीर्य और स्थायित्व इसी से आता है। इसके आगे वैज्ञानिक पद्धति आती है जो वस्तु और परिस्थिति के तारतम्य, वस्तु के अन्तर्तत्त्वों के वर्गीकरण, और उसके स्थान-नियोजन पर विशेष बल देती है। पहली दो पद्धतियों में—अर्थात कैसा है ? और क्यों है ?—के विवेचन में आलोच्य वस्तुओं का बहुत कुछ मनोगत रूप व्यक्त किया जाता है, वैज्ञानिक-पद्धति स्तु के वस्तुगत रूप को स्पष्ट करने का दावा करती है। साहित्य या कला का एकान्त वस्तुगत रूप क्या होता है और वैज्ञानिक-पद्धति उसको कहाँ तक ग्रहण और स्पष्ट कर सकती है, यह मैं अभी नहीं समझ सका; परन्तु इस पद्धति का अपना महत्व असंदिग्ध है। इसकी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि आलोचक की अपनी धारणाओं में रागद्वेष की मात्रा अत्यन्त संयत हो जाती है, एवं उसकी अभिरुचि अधिक-से-अधिक बुद्धि-सङ्गत हो जाती है। दूसरे, 'क्यों' की व्याख्या करने के लिए भी वस्तु और परिस्थिति के तारतम्य का ज्ञान अनिवार्य है; तीसरे, उसका स्थायी महत्व आँकने के लिए उसकी परम्परा स्थिर करते हुए इतिहास में स्थान-नियोजन करना भी सर्वथा अभीष्ट है। इस प्रकार आलोचना की इन विभिन्न प्रणालियों में अंतर्सापेक्ष्य है, विरोध नहीं। हाँ, अपने में वे अवश्य अपूर्ण हैं। सुलझा हुआ आलोचक मतवादों के फेर में न पड़ता हुआ उनका सार्थक उपयोग करता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि आलोचक के कर्तव्य-कर्म दो हैं : पहला है लेखक और पाठक के बीच द्विभाषण। इसकी परिधि में व्याख्या, निर्णय और स्थान-नियोजन सभी कुछ आ जाता है।

दूसरा है आलोच्य वस्तु के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना जिसके बल पर ही आलोचना साहित्य-पद को प्राप्त हो सकती है।

संक्षेप में मेरी साहित्य और समीक्षा-विषयक मान्यताएँ ये हैं :—

(१) साहित्य आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति ही आनन्द है, रस है—पहले स्वयं लेखक के लिए, फिर प्रेषणीयता के नियमानुसार पाठक के लिए। और रस जीवन का सबसे बड़ा पोषक तत्त्व है।

(२) आत्माभिव्यक्ति आत्मरक्षण का, जो जीवन की प्रेरक शक्ति है, प्रमुख साधन है।

(३) जीवन की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति साहित्य भी एक

विशेष प्रकार की अभिव्यक्ति है—उसका एक विशेष स्वरूप और विशेष शैल अथवा कला है—जिसको ग्रहण करने के लिए एक विशेष संस्कार और एक विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है। अतएव उसके अधिकारी पारखी उस कला के विशेषज्ञ ही हो सकते हैं जन-साधारण नहीं, वे तो अधिक-से-अधिक उसका रस ले सकते हैं।

(४) साहित्य का मूल्य साहित्यकार के आत्म की महत्ता और अभि-व्यक्ति की सम्पूर्णता एवं सचाई के अनुपात से ही आँकना चाहिए। अन्य मान एकांगी हैं, अतः प्रायः धोखा दे जाते हैं।

(५) साहित्य वैयक्तिक चेतना है, सामूहिक नहीं। जब मैं ऐसा कहता हूँ तो व्यक्ति पर समूह के ऋण का तिरस्कार नहीं करता। परन्तु मैं यह निश्चित रूप से मानता हूँ कि समूह (समाज) अधिक-से-अधिक व्यक्ति का निर्माता हो सकता है स्रष्टा नहीं। समाज का प्रभाव व्यक्ति पर उसकी अपनी शक्ति के विलोम अनुपात से पड़ता है। इसलिए इतिहास का केवल आर्थिक या भौतिक व्याख्यान करना मानव-शक्तियों का उपहास करना है। आज हमारे प्रगतिवादी आलोचक यही करके प्राचीन और नवीन साहित्य के साथ अन्याय कर रहे हैं।

(६) समीक्षा में भी मैं समीक्षक की आत्माभिव्यक्ति—जिसमें उसकी भावुकता अर्थात् रसज्ञता, बुद्धि, मानसिक संतुलन आदि सभी कुछ आ जाता है—को प्रमुख मानता हूँ। मानव जगत् में विशेषकर साहित्य-जगत् में वस्तु का एकान्त वस्तुगत रूप भी ग्रहण किया जा सकता है, यह मैं नहीं मानता।

(७) स्वभावतः साहित्य के अन्य अङ्गों की भाँति समालोचना में भी साधारणीकरण को मैं अनिवार्य मानता हूँ।

—अर्थात् आलोचक एक विशेष रस-ग्राही पाठक है और आलोचना उस गृहीत रस को सर्व-सुलभ करने का प्रयत्न। इस प्रयत्न में आलोच्य कृति के सहारे आलोचक जितनी सचाई और सफ़ाई के साथ अपने को व्यक्त कर सकेगा उतना ही उसकी आलोचना का मूल्य होगा।

: ४ :

साहित्य में कल्पना का उपयोग

कल्पना शब्द क्लृप् धातु से बना है जिसका अर्थ है (करने की) सामर्थ्य रखना : सृजन करना—'यथापूर्वमकल्पयत्'।

विदेश के साहित्य-शास्त्र में कल्पना का बड़ा गौरव है। काव्य के चार प्रमुख तत्वों में सभी ने उसका स्थान सर्व-प्रमुख माना है। संस्कृत के रस-शास्त्र में कल्पना का पृथक् रूप से विवेचन नहीं मिलता, यद्यपि उसकी सत्ता सर्वत्र स्वीकृत की गई है।

भारतीय दर्शन के अनुसार अंतःकरण के चार अङ्ग हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। यद्यपि इन चारों की परिधियाँ मिली-जुली हैं, फिर भी उनके धर्मों का स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट है। मनको न्याय में संकल्प-विकल्पात्मक कहा है—'संकल्पविकल्पात्मकं मनः'। सब प्रकार के संकल्प-विकल्पों का माध्यम हमारा मन ही है। संकल्प और विकल्प, ये शब्द कल्पना के सगोत्रीय अवश्य हैं यद्यपि उनका सीधा सम्बन्ध उससे नहीं है। संकल्प का तात्पर्य अनुभूत वस्तु से सम्बद्ध पहली मानसिक धारणाओं से है—विकल्प उनकी अनुयोगी अथवा प्रतियोगी धारणाएँ हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान (परिज्ञान) से जो हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उनका मन ही समीकरण करके उन्हें बुद्धि के समक्ष उपस्थित करता है। "यही मन वकील के सदृश कोई बात ऐसी है (संकल्प) अथवा इसके विरुद्ध वैसी ही (विकल्प) इत्यादि कल्पनाओं को बुद्धि के सामने निर्णय करने के लिए पेश करता है। इसीलिए इसे 'संकल्प-विकल्पात्मक' अर्थात् बिना निश्चय किये कल्पना करने वाली इन्द्रिय कहा गया है।"—ऐसा गीता-रहस्य में आता है; और यही पश्चिमी दार्शनिकों के मत से कल्पना का भी सबसे साधारण और पहला धर्म है।

इस प्रकार मन ही कल्पना का आधार सिद्ध होता है। इसी विवेचन को कुछ और स्पष्ट करते हुए रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास लिखते हैं, "दार्शनिकों ने सब प्रकार के ज्ञान की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं : परिज्ञान, स्मरण, कल्पना, विचार, और सहज ज्ञान। सबसे पहले हम बाह्य पदार्थों का ज्ञान अपनी ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा होता है। जब हम किसी मनुष्य के सामने जाते

हैं, तब हमारे नेत्रों के द्वारा उसका प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है।······ इस प्रकार के ज्ञान को 'परिज्ञान' कहते हैं। यदि हमने उस मनुष्य को ध्यान से देखा है तो पीछे से आवश्यकता पड़ने पर 'स्मरण' शक्ति की सहायता से उस मनुष्य के रूपादि का कुछ ध्यान कर सकते हैं।······मान लीजिए कि उक्त मनुष्य एक अङ्गरेज़ है। हमने एक सन्यासी को भी देखा है और हमें उस सन्यासी के रूप, आकार तथा उसके वस्त्रों के रंग का स्मरण है। अब हम चाहें तो अपने मन में उस अङ्गरेज का सूट-बूट छीनकर उसे सन्यासी का गेरुआ वस्त्र पहना सकते हैं और तब हमारी मानसिक दृष्टि के सामने एक अङ्गरेज सन्यासी का चित्र उपस्थित हो जाता है।······मन की एक विशेष क्रिया से स्मरण-शक्ति द्वारा सञ्चित अनुभवों को विभक्त कर और फिर उनके पृथक्-पृथक् भागों को इच्छानुसार जोड़कर हमने मन में एक नवीन व्यक्ति की रचना करली जिसका अस्तित्व वाह्य जगत् में नहीं है। मन की इस क्रिया को कल्पना कहते हैं।" एक प्रकार से, अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है—वही चेतन दशा में कल्पनावस्था समझनी चाहिए।

यह तो रहा कल्पना का तत्त्व-दृष्टि से विवेचन। रस-दृष्टि से विवेचन करते समय हमारा रस-शास्त्र कुछ अधिक सहायता नहीं देता। यह बात नहीं कि वह कल्पना का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। वास्तव में उसकी सत्ता के बिना तो कोई काव्य-शास्त्र एक पग आगे नहीं बढ़ सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि विदेश में उसे काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना है, और यहाँ अनिवार्य उपकरण। काव्य के अंग-प्रत्यंग में कल्पना ओत-प्रोत है—उसके बिना काव्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं—इसी कारण कदाचित् उसका पृथक् निर्देश अनावश्यक समझा गया हो। संस्कृत अलङ्कार-शास्त्र का 'स्वाभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' विषयक वाद-विवाद मेरे कथन की पुष्टि करेगा। चित्त को चमत्कृत करने की जिस शक्ति का उल्लेख हमारे यहाँ स्थान-स्थान पर मिलता है वह और कुछ नहीं शब्द-भेद से काव्य का वही गुण है जिसे अङ्गरेज आलोचक एडीसन ने कल्पना का प्रसादन कहा है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य की आत्मा ध्वनि का आधार कल्पना के सिवाय और क्या हो सकता है? व्यंजना शतप्रतिशत कल्पना के आश्रित है। "सूर्यास्त हो गया।"—व्यंजना का यह उदाहरण रस-शास्त्रियों में बहुत प्रसिद्ध। इसको सुनते ही प्रत्येक श्रोता अपने अनुकूल अर्थ निकाल लेगा : ग्वाला

घर लौटने का, विद्यार्थी सन्ध्यावन्दन करने का, अभिसारिका संकेत-स्थल की ओर प्रस्थान करने का'''इत्यादि। मन की जिस शक्ति-द्वारा यह अर्थ-ग्रहण सम्भव है वही वास्तव में कल्पना है। इसी प्रकार गुणी-भूत व्यंग्य काव्य में भी कल्पना का आधार निश्चित है।

कल्पना को साधारणतः प्रत्यक्ष अनुभव का विरोधी गुण समझा जाता है—और एक निर्दिष्ट सीमा तक, स्थूल रूप में यह सत्य भी है। कल्पित और सत्य—घटित के अर्थ में—में इसी दृष्टि से पार्थक्य भी किया जाता है। उदाहरण के लिए, नाट्य-शास्त्र कहता है कि नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक सत्य अथवा घटित, और प्रकरण को कल्पित, काल्पनिक होना चाहिए। कपोल-कल्पित आदि शब्दों का प्रयोग भी इसी अर्थ से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कल्पना प्रत्यक्ष के सर्वथा अनाश्रित नहीं हो सकती। हम प्रायः उस वस्तु की कल्पना कर नहीं सकते जिसके समस्त स्वरूप का अथवा पृथक् अवयवों का हमने प्रत्यक्षीकरण न किया हो। इसीलिए तो कल्पना की तुलना उस पक्षी से की गयी है जो सुदूर आकाश में उड़ता हुआ भी पृथ्वी पर दृष्टि बाँधे रहता है।

कल्पना के स्वरूप की थोड़ी बहुत व्याख्या करने के उपरान्त, अब उसके काव्य-गत विभिन्न प्रयोगों का विवेचन करना संगत होगा। अङ्गरेज़ी आलोचक कॉलरिज और रिचर्ड्स ने इन रूपों का बड़ा स्वच्छ विवेचन किया है।

सबसे पहिले तो उसका प्रयोग मन पर पड़े हुए प्रत्यक्ष पदार्थ-चित्रों से सम्बन्ध रखता है। प्रत्यक्ष जगत् में हम जो कुछ देखते या सुनते हैं उसके विषय में हमारे मन में अनेक भाव-तरंगें अनायास ही उठने लगती हैं—मन इनको समवेतकर चित्रों के रूप में परिणत कर देता है। यह मन की वही प्राथमिक क्रिया है जिसका विवेचन तिलक महाराज ने अपने गीता-रहस्य में किया है। काव्य की दृष्टि से इस का अधिक मूल्य नहीं, यद्यपि स्थूल वस्तु-दर्शन में इसी का प्रयोग होता है। इस युग की टेकनीक में सम्भव है इसका मूल्य बढ़ जाय, परन्तु साधारणतः मन इतने से ही संतुष्ट नहीं होता। वह उस चित्र को अपने अनुरूप गढ़ना चाहता है, और इस प्रकार उसमें अपनी रुचि के अनुसार काँट-छाँट करता रहता है। इसी को विक्टर कज़िन ने "अनजाने में प्रकृति की आलोचना" कहा है। पश्चिमी साहित्य-शास्त्र में मन का यह कार्य आदर्शीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप-ही-आप बिना किसी

प्रयत्न के होता रहता है, और काव्य में तो प्रयत्न-पूर्वक भी इसका बचाव नहीं हो सकता। हाँ, भाव-प्रधान रचनाओं में इसका उपयोग मुख्य और वस्तु-प्रधान कृतियों में अपेक्षा-कृत गौण होता है। आगे चलकर भावना-विशेष पर केंद्रित होकर कल्पना का यही प्रयोग प्रतीकों का सृजन करने में समर्थ होता है।

कल्पना का दूसरा प्रयोग अलंकारों—अप्रस्तुत-विधान—में किया जाता है। साम्य और वैषम्य-मूलक जितने अलंकार हैं उनका प्रधान साधन कल्पना ही है। वस्तु और भाव उत्कर्ष को बढ़ाने के लिए कल्पना का योग अनिवार्य है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्य-मूलक अलंकारों में साम्य को स्थापना और विरोध, विषम, विभावना आदि वैषम्य-मूलक प्रयोगों में वैषम्य की धारणा कल्पना के आश्रय से की जाती है। अतिशयोक्ति में भी यही बात है। साम्य में समान-धर्मा वस्तुओं का, वैषम्य में विपरीत धर्म वस्तुओं का और अतिशयोक्ति में दूरस्थित वस्तुओं का समीकरण किया जाता है।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लटसे खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर वक्ष पर विपुल।
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार,
चमकतीं दूर ताराएँ हों ज्यों कहीं पार।

अनुपात का ध्यान न होने से यही समीकरण विचित्र तमाशे खड़े कर देता है। संस्कृत-हिन्दी रीति-साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। फ़ारसी और उर्दू में भी इसी तरह तख़ैयुल के साथ भरपूर खिलवाड़ हुई है। पन्त की 'स्याही की बूँद' कविता पेश की जा सकती है।

गोल तारा-सा नभ से कूद!

यहाँ बूँद में और तारे में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है—परन्तु अनुपात को सर्वथा भुला कर!

कल्पना का तीसरा प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। किसी सीधे-सादे व्यक्ति को यह कहते हुए सुनकर कि मैं तो अमुक चित्र अथवा मूर्ति अथवा कविता में कोई विशेषता नहीं देखता, हम प्रायः कह उठते हैं कि तुम्हारी कल्पना निर्धन है। तो यहाँ कल्पना का तात्पर्य्य कलाकार की मानसिक अवस्था का अनुभव करने की क्षमता से है। शब्द-शक्ति लक्षणा का सम्बन्ध कल्पना के इसी अर्थ से है। यदि कलाकार अपनी मनोदशा को प्रेषणीय

नहीं बना सकता तो कलाकार में कल्पना की कमी है; और अगर पाठक, श्रोता अथवा दर्शक उस मनोदशा को ग्रहण करने में मन्थर है तो यह उसकी कल्पना की हीनता कही जायगी। यही कारण है कि भाषा के लाक्षणिक प्रयोगों को कल्पना-हीन पाठक सरलता से नहीं समझ सकता।

इसके अतिरिक्त कल्पना का प्रयोग होता है आविष्कार के अर्थ में। इसी दृष्टि से वैज्ञानिक आविष्कर्ताओं को उत्कट कल्पनाशील कहा जाता है। काव्य में इस प्रकार का प्रयोग अद्भुत दृश्यों के चित्रण में, असम्भाव्य घटनाओं के विधान में, अपार्थिव स्त्री-पुरुषों के सृजन में किया जाता है। हिन्दी का उपन्यास 'चन्द्रकान्ता-संतति' इसका अमर उदाहरण है। यहाँ कल्पना दूर की कौड़ियों को इकट्ठा तो कर देती है, परन्तु उनका सम्यक् समन्वय नहीं कर सकती। इसीलिये उनमें भराव नहीं आ सकता। और यही कारण है कि इस प्रकार की कृतियों से हमारी मनस्तुष्टि नहीं हो सकती।

कल्पना का एक मुख्य कार्य है रिक्त स्थानों को भरना अर्थात् विषमताओं को एक सार करना। जगत में हम देखते हैं वस्तुएँ पूर्ण नहीं हैं, उनमें न्यूनताएँ एवं दोष हैं, अर्थात् उनमें बीच-बीच में स्थान रिक्त रह गए हैं। बस हमारी कल्पना आप ही आप उनको भरने का प्रयत्न करने लगती है। ऐसा करने के लिए उसको उन स्थानों के रिक्त होने का कारण खोजना पड़ता है और वह देखती है कि वास्तव में उन वस्तुओं के विभक्त अङ्गों में परस्पर सम्बन्ध था जो विशेष व्यतिक्रमों से अब टूट गया है। इस प्रकार हमारी कल्पना उन लुप्त संगत सम्बन्धों का पुनर्स्थापन कर समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसी को रूप-विधान कहते हैं। काव्य-गत टेकनीक में कल्पना का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि ऐसा जान-बूझ कर ही किया जाय। अनजाने में भी हमारी कल्पना प्रायः यह कार्य करती रहती है।

अब कल्पना का सबसे अन्तिम एवं सशक्त प्रयोग रह जाता है जिसका अङ्गरेज़ कवि-समालोचक कॉलरिज ने वर्ड्सवर्थ-काव्य के प्रसंग में इतने सबल शब्दों में विवेचन किया है : "इस समन्वय और जादू की शक्ति के लिए ही मैंने कल्पना शब्द का प्रयोग किया है। इसका धर्म है विरोधी या असम्बद्ध गुणों का एक-दूसरे के साथ संतुलन अथवा समन्वय करना अर्थात् एकरूपता का अनेकरूपता के साथ, साधारण का विशेष के साथ, भाव का चित्र के

साथ, व्यष्टि का समष्टि के साथ, नवीन का प्राचीन के साथ, असाधारण भावावेश का असीम संयम अथवा अनुक्रम के साथ अथवा चिर-जागृत विवेक एवं स्वस्थ आत्म-संयम का दुर्दम उत्साह तथा गंभीर भावुकता के साथ।···इसी के बल पर कवि अनेकता में एकता ढूँढ़ निकालता है और विभिन्न विचारों एवं भावों को एक विशेष विचार अथवा भाव से अन्वित कर देता है।'' शेक्सपियर ने इसे ही स्वस्थ कल्पना कहा है। कल्पना का यह रूप कवि की सबसे बड़ी गौरव-कसौटी है। क्योंकि इस प्रकार के समन्वय की क्षमता उन्हीं विश्वदर्शी कलाकारों में हो सकती है जिनके हृदय विशाल हों, जो जगत् की विभिन्नताओं को पचा सकें।

खल और संत समाज की एक श्वास में वन्दना करने वाला तुलसीदास, विश्व की विषमताओं को एकरस होकर ग्रहण करने वाला शेक्सपियर, शैतान के विद्रोह और ईश्वर के न्याय पर एक साथ मुग्ध होने वाला मिल्टन, राम का अनन्य भक्त होते हुए भी उनके विरोधियों के प्रति सहानुभूति रखने वाला मैथिलीशरण अथवा इसी कोटि का कोई अन्य कवि ही इतना ऊँचा उठ सकता है। कल्पना का यह प्रयोग समस्त काव्य में ही नहीं एक वाक्य तक में सफलता से हो सकता है। अङ्गरेज़ी के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक रिचर्ड्स ने इसी दृष्टि से ट्रैजेडी को काव्य का सबसे महत्वपूर्ण स्वरूप माना है क्योंकि उसमें भय, जो हमें पात्र से दूर हटाता है, और करुणा, जो पात्र के प्रति आकृष्ट करती है, का पूर्ण सामञ्जस्य होता है।

अङ्गरेज़ी में कल्पना के लिए एक और शब्द प्रयुक्त होता है 'फ़ैन्सी' जिसका अर्थ साधारणतः कल्पना की ललित क्रीड़ा समझा जाता है। कॉलरिज ने उसका जो अर्थ किया है—स्मरण का एक प्रकार—वह हमारी समझ में नहीं आता, और न वह प्रचलित अर्थ ही है।

कल्पना के ये ही प्रमुख रूप हैं, उसके विभिन्न प्रयोग इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु फिर भी उनकी पृथक् सीमाओं का निर्देश करना साहित्य के विद्यार्थी के लिए उतना ही कठिन है जितना दार्शनिक के लिए निश्चय पूर्वक यह कहना कि कल्पना केवल मन की ही क्रिया है अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों की।

: ५ :

हिन्दी उपन्यास

कुछ दिन से हिन्दी-उपन्यास पर एक लेख लिखने का भार मन पर झूल रहा था। कल रात को उसी की रूप-रेखा बना रहा था। कभी प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकरण की बात सोचता, कभी समस्याओं के, और कभी टेकनीक के आधार पर। रूप-रेखा कुछ बनती भी थी। परन्तु परसों शाम ही को सुना हुआ जैनेन्द्रजी का यह वाक्य गूँज उठता था कि तुम लोग, यानी पेशेवर आलोचक—और उनका यह विशेषण मुझ जैसे लोगों ही को नहीं, आचार्य शुक्ल, डॉक्टर ब्रैडले आदि जैसे आलोचकों को भी आलिंगन-पाश में बाँधने के लिए अपनी विशाल बाहें फैलाए हुए था—लेखक की आत्मा को पहचानने का प्रयत्न नहीं करते बल्कि उस पर अपना ही मत थोपते रहते हो। अन्त में मेरे मन में एक बात आई : क्यों न एक मूलग्राही प्रश्नावली बना उपन्यासकारों से मिलकर अपने-अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में उन सभी के दृष्टिकोण जान लूँ, और फिर उन्हें ही मनोविश्लेषण के आधार पर संश्लिष्ट कर एक मौलिक लेख तैयार करलूँ ? यह विचार कुछ और आगे बढ़ता परन्तु एक समस्या आकर खड़ी होगई—कि यह सब इतनी जल्दी कैसे हो सकता है, और फिर हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकारों से मिलने के लिए तो इहलोक की ही नहीं परलोक की भी यात्रा करनी पड़ेगी। लेख की मौलिकता, उसके द्वारा हिन्दी आलोचना में एक नयी दिशा प्रशस्त करने का लोभ अथवा और कुछ भी कम से कम इस दूसरे उपाय का प्रयोग करने के लिए मुझे राज़ी न कर सका। अन्त को मानसिक श्रम से थक कर मैं सो गया।

रात को मैंने देखा कि एक बृहत् साहित्यक समारोह लगा हुआ है। साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन तो नहीं क्योंकि उसमें इस प्रकार के नगण्य विषयों के विवेचन का लोगों को कम ही अवसर मिलता है। पर कुछ भी हो, मैंने देखा उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास अङ्ग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यासकार उपस्थित हैं। पहिले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत होगये कि जो साहित्य का कर्तव्य-कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत् देवकीनन्दन

खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब व्याख्या के साथ आनन्दमयी विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफ़ी विवाद चला। अन्त में मेरे ही समवयस्क से एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं, अच्छा हो यदि वे एक-एक कर बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास-साहित्य के विषय में अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट करते चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढङ्ग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफ़ी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्त कण्ठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल ही एक प्रश्नावली भी पेश कर दी, जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाय। उसमें केवल तीन प्रश्न थेः—

(१) आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

(२) आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं ?

(३) अपने उद्देश्य में आपको कहाँ तक सिद्धि मिली है ?

यह प्रश्नावली भी तुरन्त स्वीकृत होगयी, और प्रस्ताव-कर्ता से ही कह दिया गया कि आप ही कृपाकर इस कार्यवाही को गति दे दीजिए। अस्तु!

सबसे पहिले उपन्यास-सम्राट प्रेमचन्द जी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहाः नहीं, नहीं, मुझसे पहिले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनन्दन खत्री से प्रार्थना करनी चाहिए। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य-सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, यह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आया था कि मैं भी इसी प्रकार के अद्‌भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरञ्जन कर यश-लाभ करूँ। इसीलिए मैंने चन्द्रकान्ता-सन्तति लिख डाली। अद्‌भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस

चित्रलोक की रचना कर सकी। आख़िर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मन्दी थी कि उनको आवश्यकता थी किसी ऐसे साधन की जो उसमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य से उत्तेजना की मांग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् अनन्त रहस्यों का भण्डार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आँखें खुली न होने के कारण यह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इस तिलिस्म के द्वार से टकरा कर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँग पूरी करते हैं—उनके मन्द जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसको कौतूहल वृत्ति की तृप्ति करते हैं। इसी लिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे जो वह चाहते थे मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है ? वे जीवन की व्याख्या करते हैं या नहीं यह मैं नहीं जानता। मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की—परन्तु मनोरञ्जन अवश्य करते हैं—मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।

इसके उपरान्त मुन्शी प्रेमचन्द बिना किसी तकल्लुफ़ के आप ही आप खड़े हो गए और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास साहित्य का तात्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा; पर मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष है, इस लिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को ज़रा और साफ़ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ़ स्वरूप, कार्य-कारण वग़ैरह का विश्लेषण कर उसके भिन्न-भिन्न तत्त्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकाल कर ही सन्तुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या तो इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की

अनुवर्तिका है। मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी है। यानी मैं मानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रख कर मानव-चरित्र का विश्लेषण कर यह समझले कि कहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अवस्था तक लेजाय जहाँ वह गड़बड़, वह सारी असङ्गति मिट जाय और जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहाँ मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नहीं करता—वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुए मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नहीं होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ में से ही आदर्श के तत्वों को ढूँढ़कर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। उपन्यास कहाँ तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी ख़ामियों को समझ कर उनको दूर करने के लिए जागरूक कर सके हैं, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिए। मेरा उद्देश्य केवल मनोरञ्जन करना नहीं है—वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसख़रों का···। (सहसा बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहका मार कर हँसते हुए)—आशा है आप मेरा मतलब ग़लत नहीं समझ रहे हैं।

प्रेमचन्दजी के बाद कौशिकजी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह याद नहीं उन्होंने क्या कहा, पर शायद उन्होंने प्रेमचन्द जी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसादजी से प्रार्थना की गयी। पहले तो वे राज़ी नहीं हुए। परन्तु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे अत्यन्त शान्त-संयत मुद्रा में खड़े हुए और कहने लगे—हिन्दी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटकों को रोमान्टिक आदर्शवाद की कक्षा में रक्खा है और मेरे उपन्यासों को यथार्थवाद की कक्षा में। मैं नहीं कह सकता कि मूलतः मेरे साहित्य के बीच कोई ऐसी विभाजक रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता-नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियाँ पड़ गयी हैं, उनसे मैं निष्पक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता—आह, यदि यह सम्भव

होता! परन्तु प्रेमचन्दजी की तरह सामूहिक बहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिए झुकता है वे अन्दर से कितनी कच्ची और घुनी हुई हैं? प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सँभालने का उनमें बल है? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया जाय? और प्रवृत्ति भी क्या सत्य है? यही आज के जीवन का दर्शन है—और मैं इसको पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूँ। यह आपको मेरे सम्पूर्ण साहित्य में मिलेगा—उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन जिनके मूर्धन्य पर शोभित फ़ैल्टकैप उनके परम्परा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खड़े हुए और बोले—भई, उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हूँ, और बुन्देलखण्ड के ये ही नदियां नाले या नदी नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं। इस लिए मुझको हिस्टौरिकल रोमान्स पसन्द है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा। इसी रोमान्टिक वातावरण में बाल्यकाल से ही अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ—और अपने कानों से उसकी विस्मय-गाथाएं सुनी हैं। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खण्डहरों में जीवन का स्पन्दन भरने लगीं, और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास करने लगा। मेरे उपन्यास यदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन में जगा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल अधनंगा शरीर एक अजीब फक्कड़पन का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच में काफी चुनौती-भरे स्वर में फ़िक़रे कस कर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निर्द्वन्द कलाकार उग्रजी हैं। वृन्दावनलाल जी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप खुद ही उठ खड़े हुए और बोले—ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा?

और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाले लोगों में कहाँ? जोश आता है नीति की चहारदीवारों को तोड़ कर विधि-निषेधों का जी भर कर मज़ा लेने से। जोश आता है, जिससे ये लोग तामस और पाप कह कर दूर भागते हैं, उसका मुक्त उपभोग करने से, जबकि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की श्रृङ्खलाएँ तोड़ कर स्वच्छन्द होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश मैं—मेरे ही उपन्यास—दे सकते हैं; जिनके आत्म-रूप नायक अवसर आते हो नपुंसक बन जाते हैं उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है? यह कह उन्होंने अपने व्यङ्ग को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्र जी की ओर देख कर हँस दिया।

जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त ही हुआ, पर उन्होंने अपने को हत-प्रभ नहीं होने दिया। हाथ को घुमाकर नर्म की चादर को सँभाला और एक खास सादगी के अन्दाज से आँखों को मठराते हुए ऊपर के होठ से नीचे के होठ को लपेट कर बोले—अरे भई, उग्रजी के जोश में उबाला लाने वाली चीज हमें कहाँ प्राप्त है—और फिर एक नज़र यह देख कर कि उनके इस हाजिर जवाब का प्रेमचन्द जी और सियारामशरण जी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे—मुझे कुछ-मुझे कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विश्रृङ्खल होगया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब कुछ है। वह कोई भी स्वरूप धारण कर सकता है। आजके जीवन की तरह वह जैसे एकदम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ यह मैं क्या जानूं? मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं। परन्तु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मनमें कुछ है जो बाहर आना चाहता है—और उसको कहने के लिए मैं उपन्यास या कहानी या लेख, जब जैसी सुविधा होती है लिख बैठता हूँ। आप पूछेंगे यह क्या है जो कि बाहर आना चाहता है। यह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि यह जीवन और जगत् जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्त्व है—आज इसकी यह अखण्डता खण्डित हुई-सी लगती ही है—लगती ही है, दरअसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा है—उसके हाथ से जीवन की कुञ्जी खो गयी है, और कुञ्जी है यही अखण्डता की भावना। मैं चाहता हूँ कि वह इसे ढूँढ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है। और इसे ढूँढने का साधन है

केवल एक प्रेम या अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिए अपने को पीड़ा देना—पीड़ा में ही परमात्मा बसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रखी है, क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक को जितनी आत्म-पीड़न की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा कर जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं। इतना कहते हुए बड़े ही आहिस्ता से, जैसे ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर है, वे बैठ गये।

इसके बाद सियारामशरणजी से प्रार्थना की गयी कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें। परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—हम क्या कहेंगे, अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।

तब पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुखमण्डल को थोड़ा और गोल करते हुए वे बोले—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत् प्रेमचन्दजी और साथियो! मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा अभी तक मेरा भी बहुत कुछ वही मत था। परन्तु आज मैं स्पष्ट देखता हूँ—और यह कहते हुए अञ्चलजी की ओर देख कर वे अत्यन्त गम्भीर हो गये, जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अञ्चलजी के मुख पर साफ़ नज़र आ रहा है—कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज मुझे शरत् या गाँधी नहीं बनना, शोलोख़ोव और स्टालिन बनना है।

अब वात्स्यायनजी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—माँग हुई। वात्स्यायनजी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था, मुझे सिर्फ उनके होठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्रजी ने एक बार उनको ललकारा भी—अरे सरकार ज़रा दम से बोलिए, आख़िर आप स्वगत-भाषण तो कर नहीं रहे, मजलिस में बोल रहे हैं। पर वात्स्यायनजी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हार कर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। वे कह रहे थे.........या यों कहिए कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें, जैसा कि मैंने प्रवेश में कहा है, मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने रागद्वेष को सर्वथा पृथक् रखकर, वस्तुगत

चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का, विशेष कर उस व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूँ और यह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्व और भी कई गुना हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेष-विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनन्द राग-द्वेष में बहने के आनन्द से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। शेखर को पढ़ कर आप जितना ही इस आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।

इतने ही में इलाचन्द्रजी स्वतः प्रेरित से बोल उठे— वात्स्यायनजी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनो-विश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का क़ायल हूँ, परन्तु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बना कर ही छोड़ देना तो मनोविश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रॉयड ने भी मनो-विश्लेषण को साधन ही माना है साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रन्थियों को सुलझा कर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनन्द सच्चा आनन्द है—स्वस्थ आनन्द है।

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्त्ता महोदय ने उठकर कहा कि अब देर काफ़ी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान औपन्यासिकों के अपने-अपने मन्तव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपालजी ही अपने विचार प्रकट करने का कष्ट करें।

यशपालजी बोले— वात्स्यायनजी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूँ, परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनन्द और कुछ नहीं शुद्ध आत्मरति

मात्र है। वात्स्यायनजी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं—उन्होंने जीवन और जगत को अपनी सापेक्षता में देखा और अङ्कित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा है। मेरा दृष्टि-कोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि को सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिल्कुल ग़लत अर्थ समझना है। आत्मरति एक भयङ्कर रोग है। उससे जीवन में विषमयी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यक्ति के घोंघे से निकल कर समष्टि की धूप में विचरण किया जाय। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्यायें और उलझ जायेंगी। उसके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित कर उनको अनिवार्य महत्व देना मूर्खता है—सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिए—गण-शक्ति का अर्जन कीजिए। परन्तु इसके साथ ही जैनेन्द्रजी के आत्म-निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है उसका निषेध करना बेमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सबसे अधिक बात करने वाले गाँधीजी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। आध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि इस भ्रम-जाल से निकल कर जीवन की भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अन्त में प्रश्नकर्त्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—अभी आपके सामने हिन्दी के कुछ प्रतिनिधि उपन्यासकारों ने अपने-अपने दृष्टि-कोणों की सुन्दर विवेचना की है। हिन्दी उपन्यास के लिए वस्तुतः यह गौरव का दिन है जबकि मारे आदि-उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक—बाबू देवकीनन्दन खत्री से लेकर यशपाल तक—सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे सम्भव हो सका यह सोच कर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टि-कोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामन्तीय से वह भौतिक-बौद्धिक हो गया है। देवकीनन्दन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनन्दनजी का दृष्टिकोण—उनके औपन्यासिक मान—शुद्ध सामन्तीय हैं। साहित्य

था उपन्यास उनके लिए एक जीवित शक्ति नहीं है, वह मनोरञ्जन का—उपभोग का एक उपकरणमात्र है। वह जीवन की व्याख्या और आलोचना करने वाला एक चैतन्य प्रभाव नहीं है, उपभोग-जर्जर जीवन में झूठी उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है। शारीरिक उत्तेजना के लिए जिस प्रकार लोग कुश्ते खाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिए इसी प्रकार वे 'तिलिस्म होशरुबा' या चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़ते थे। इस तरह से उस समय के जीवन के लिए चन्द्रकान्ता उपन्यास एक महत्व-पूर्ण प्रभाव था, और कम-से-कम उसकी अनन्त-विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को इस बुरी तरह जकड़ लेती है यही उसकी शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचन्द तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उनके लिए उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करने वाला एक चेतन-प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं, और नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। निदान उनका उपन्यास मानव-जीवन की ऊपरी सतह को छू कर नहीं जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परंतु चूँकि उसकी दृष्टि बहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिए उसकी भी तो पैंठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राण-चेतना के आरपार नहीं देख पाता—विवेकी को इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। उसकी विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पातीं। इसीलिए तो प्रेमचंदजी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल हो कर भी मुझे उनमें और शरत् या रविबाबू में बहुत अन्तर लगता है। प्रेमचंद्रजी की इस बहिर्मुखी सामाजिकता को उसी समय प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा और उग्र ने चैलेञ्ज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़ अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्रने उनकी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परन्तु गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोक-रुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेम-चंद का गतिरोध करना असम्भव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गाँधी-वाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी, उनके अध्यात्मक तक नहीं पहुँच पायी थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेन्द्रजी ने किया है। विवेक

और नीति से आगे अध्यात्म की ओर बढ़ने का उनको और सियारामशरणजी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फ़िलासफ़ी में गाँधीवाद का अध्यात्म-पक्ष ही तो है। इस दृष्टिकोण की दो तत्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की चित्रलेखा और अज्ञेय के शेखर में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक प्रवृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनको आस्था स्वस्थ उपभोग में है—अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और बौद्धिक है। ये नास्तिक-बुद्धिवादी हैं। उनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण वास्तव में शेखर हिन्दी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गया। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण-भाव भी होता! यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक पग और आगे बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रहकर भौतिकवादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमें भी है, परन्तु वैज्ञानिक आत्म-लीनता उनमें नहीं है—ये अपने बाहर जाते हैं, इनमें भौतिकवादी सामाजिकता है...... ।

ऊबे हुए लोगों में से ही एक तेज़ आवाज़ आई—आपने क्या खूब संश्लेषण किया है! बस अब छुट्टी दीजिये!—और मैंने आँखें मलते हुए देखा कि काफ़ी दिन चढ़ आया है और श्रीमतीजी पूछ रही हैं—छुट्टी है क्या आज?

: ६ :

प्रसाद के नाटक

—मूल-चेतना—

शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबा कर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत् को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था।

प्रसाद अपने मूल-रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था। वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह विष उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी थी। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नहीं देगा। प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा। एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसे रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

—नाटकों का आधार—

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य-संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है—चन्द्रगुप्त मौर्य से हर्षवर्धन तक—जिसमें उसकी संस्कृति

अपने पूर्ण वैभव पर थी : ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है : "ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संघटन कर लेगा।"; दूसरी ओर भगवान् बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है : "विश्व के कल्याण में अग्रसर हो! असंख्य दुःखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुःख-समुद्र में कूद पड़ो! यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे!.........विश्व-मैत्री हो जायगी—विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा!" इन्हीं दोनों धूप-छाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विरामस्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान इतिहास ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार प्राचीन शिलालेख, पाणिनी-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्राचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के सिर्फ़ रोमान्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता, चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य्य एवं

गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहिले की मुस्लिम-संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय-संस्कृति इन तीनों को लाँघकर आर्य्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनुरुत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हज़ार वर्ष का महान् अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, उपाधि, वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृति, कुमारामात्य आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसादजी पर बिल्कुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसादजी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठकर प्रसादजी देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है :

"मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो मालव वीरो, ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।"

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा।

इसी प्रकार आज की प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी प्रसादजी के चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्त्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

"मालव और मागध को भूल कर जब आर्यावर्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"

"आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद नहीं करेंगे।"

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्धविच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़-विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फ़िट कर दी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता-मात्र प्रकट करते हैं।

—सुख दुःख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के मूलतत्त्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुःख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं। परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई अनिवार्यतः मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त-भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—बौद्ध इतिहास और दर्शन के मनन ने उसे और तीखा कर दिया था। उनके नाटकों में बौद्ध और आर्य्य-दर्शन का संघर्ष और समन्वय वास्तव में दुःखवाद और आनन्द-मार्ग का संघर्ष और समन्वय है जो उनके अपने अन्तर की सबसे बड़ी समस्या थी। इसी समन्वय के प्रभाववश उनके नाटक न पूर्णतः सुखांत हैं और न दुःखांत। उनमें सुख-दुःख जैसे एक-दूसरे को छोड़ना नहीं चाहते। कवि आग्रह-पूर्वक सुख का आह्वान करता है, सुख आता भी है परन्तु तुरन्त ही दुःख भी अपनी झलक दिखा ही जाता है।

"सिल्यूकस (कॉर्नेलिया की ओर देखता है; वह सलज्ज सिर झुका लेती है)—तब आओ बेटी, आओ चन्द्रगुप्त! (दोनों ही सिल्यूकस के पास आते हैं, सिल्यूकस उनका हाथ मिलता है। फूलों की वर्षा और जयध्वनि!)

चाणक्य—"(मौर्य का हाथ पकड़ कर) चलो, अब हम लोग चलें।"

इस प्रकार आप देखते हैं कि ये नाटक सुखांत अथवा दुःखांत न होकर प्रसादांत हैं। इसका एक प्रमाण और है वह है रस का परिपाक। इन

नाटकों में मुख्य रस दो हैं : शृङ्गार और वीर (देशभक्ति)। इन दोनों में भावना अत्यन्त गाढ़ी और तीव्र है। शृङ्गार में एक ओर अपने को लय कर देने की नीखी चाह मिलती है तो दूसरी ओर विलास की उष्ण गन्ध और रूप-यौवन के गहरे चित्र, जो प्रसाद की तूलिका की विशेष विभूति हैं। इसी प्रकार वीरता—देशाभिमान अथवा आत्म-गौरव की अभिव्यक्ति भी अन्तर की ही पुकार है। सिंहरण अथवा बन्धुवर्म्मा की देशभक्ति कर्त्तव्य-पूर्ति नहीं, आत्मा का आग्रह है। उनकी उक्तियाँ केवल नीति-मुखर ही नहीं हैं, उनमें हृदय का आक्रोश भी है। परन्तु इन दोनों के साथ तीसरा रस—शान्त रस—भी अनिवार्य्य रूप से मिलता है जो इन दोनों पर अनुशासन करता है। जब आवेश, चाहे वह मधुर हो या परुष, उबल कर सीमा तोड़ना चाहता है तभी शांत रस के छींटे उसे शांत और संयत कर देते हैं। स्वभावतः यहाँ रस का प्रवाह आवेग से परिशांति की ओर बहता हुआ मिलता है। यही प्रसाद के नाटकों का 'प्रसादांत' होना है !

—चरित्र-प्रधान नाटक—

स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य के सबसे महान् स्रष्टा थे। उन्होंने अपने नाटकों में अनेक अमर-पात्रों की सृष्टि की है जो सभी अपना स्वतन्त्र एवं प्राणवान् व्यक्तित्व रखते हैं—दार्शनिक बिम्बसार और सनकी तत्त्वज्ञानी दाण्ड्यायन का व्यक्तित्व भी कितना साफ़ और तीखा है ! कारण यह है कि पात्रों में प्राण फूँकने वाली प्रतिभा की सजीवता और तीव्रता अद्वितीय थी। प्रसादजी के जीवन-रथ की परिधि भले ही घर से दशाश्वमेध और दशाश्वमेध से घर तक सीमित रही हो, परन्तु उनका भौतिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक जीवन चिर-गतिशील था। उसकी गति प्रेमचंद की तरह विस्तार में अधिक नहीं बढ़ी, परंतु अन्दर गहराई में बहुत दूर पहुँच गई थी। वे अत्यन्त प्राणवान् कलाकार थे, उनके व्यक्तित्व की तीक्ष्णता ने ही पात्रों की रूप-रेखा को काट-छाँट कर इतना तीखा कर दिया था।

एक दूसरे प्रकार से भी स्रष्टा ने अपने-आप को सृष्टि में व्यक्त किया है : प्रसाद के दर्शन-कवित्व-मय व्यक्तित्व को थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रों ने प्राप्त किये हैं। पुरुष-पात्र प्रायः तीन प्रकार के मिलते हैं :

(१) जीवन के तत्त्वों को सुलझाने वाले तत्त्व-वेत्ता आचार्य,
(२) जीवन-संग्राम में प्रवृत्त होकर जूझने वाले कर्मठ सैनिक, और
(३) राजपुत्रों को राजनीति के दाँव-पेच सिखाने वाले कूट-नीतिज्ञ।

स्त्रियों में भी स्पष्टतः कई श्रेणियाँ हैं—

(१) राजनीति की आग से खेलने वाली राज-महिषियाँ,
(२) जीवन-युद्ध में प्रेम का सम्बल लेकर कूदने वाली स्वाभिमानिनी राजपुत्रियाँ,
(३) जीवन के भँवर में पड़ी हुई मध्यवर्गीय दुर्बल नारियाँ, और
(४) अपने निस्पृह बलिदान से नाटक के जीवन में एक करुण गन्ध छोड़ जाने वाली फूल-सी सुकुमारियाँ,

बौद्ध और शैव दर्शनों के समन्वय से जीवन की व्याख्या करने वाले ये आचार्य दार्शनिक प्रसाद के ही प्रतिरूप हैं। उधर निरन्तर कर्म में रत किंतु फल की ओर से विरक्त सैनिक-रूप राजपुत्रों को, प्रसाद का जीवन के विचार और उपभोग परिपुष्ट पौरुष प्राप्त हुआ है। नारी-पात्रों में आपको उनके हृदय का रूप-मोह और प्राणों में बैठी हुई जिज्ञासा की टीस मिलेगी। इस प्रकार प्रसादजी ने सभी चरित्रों में अपने व्यक्तित्व की साँस फूँक दी है। स्वभावतः उनमें वह अव्यक्तिगत चित्रण न मिलेगा जो सच्चे अर्थ में नाटकीय कहा जाता है। जहाँ शेक्सपियर जैसे नाटककारों में, कौनसा चरित्र उनकी प्रतिच्छाया है यह पता लगना असम्भव है, यहाँ आप प्रसादजी के अव्यक्तित्व की झलक स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, चाणक्य—किसी भी चरित्र में थोड़ी-बहुत देख सकते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचन्द प्रसाद की अपेक्षा कहीं अधिक अव्यक्त रह सकते थे।

प्रसाद के काव्य में विराट् और कोमल का अपूर्व संयोग है। जिस लेखक ने कामायनी के विराट् रूपक की सृष्टि की है उसीने अनेक मधु-स्निग्ध गीतियों की उद्भावना भी की है। अतएव आपको उनके नाटकों में इन दोनों तत्त्वों का अपूर्व योग मिलेगा। उनके दो प्रकार के चित्र साहित्य की अमर-विभूतियाँ हैं—

(१) सम्पूर्ण चित्र, (२) रेखा-चित्र।

पहले चित्र कवि की विराट् भावना की प्रसूति हैं। उनमें सम्पूर्ण चरित्र-विकास शक्ति के आधार पर होता है। स्वभावतः यह चित्र समस्त

नाटक की दीवार को घेरे रहता है। चाणक्य और स्कन्दगुप्त ऐसे ही दो चित्र हैं। अजातशत्रु की मल्लिका में विस्तार तो नहीं परन्तु शक्ति असीम है। इनमें महान् कोमल का एक स्पर्श-भर पाकर मुस्करा उठा है।

दूसरे चित्र गीतिमय हैं—वे प्रसाद जी की सूक्ष्म-कोमल गीति-प्रतिभा के प्रोल्लास हैं। इनमें जीवन की समस्त रेखाएँ अथवा विभिन्न रंग नहीं हैं, इनमें एक रेख । है और एक धुँधला रेशमी रंग है—एक ही स्वर है। 'संगीत-सभाओं की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गंध-धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ—इन सबों की प्रतिकृति' हैं ये नारी चरित्र। देवसेना, मालविका और कोमा—ये तीन चित्र प्रसाद के नाटकों में उनकी ट्रैजेडी को स र-प्रतिमाएँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल-करुण व्यंग्य है।

—मधु-सिंचन—

प्रसाद के नाटक सभी मधु-सिंचित हैं। वे मूल रूप में कवि हैं, अतः उनके नाटकों में काव्य की गहरी एवं पृथुल अन्तर्धारा बह रही है। उनके सुन्दरतम गीतों का एक बहुत बड़ा अंश इन नाटकों में बिखरा मिलेगा। इसके अतिरिक्त वस्तु-चयन, पात्रों के व्यक्तित्व, वातावरण, कथोपकथन और सारभूत प्रभाव—सभी में कविता का रंगीन स्पन्दन है। प्रसाद ने अपनी रंगीन कल्पना के सहारे, दूर अतीत के बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डों को एकत्रित कर उनमें प्राणों की कविता का रस भर दिया; अतएव परिणाम-स्वरूप जिन नाटकों का निर्माण हुआ उनका वातावरण रूप और रंग से जगमगा रहा है।

सबसे प्रथम उनके गीतों को ही लीजिये। यह सत्य है कि ये सभी गीत नाटकीय नहीं हैं। कुछ तो स्पष्ट रूप से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु उनके भीतर जो वेदना की गहरी टीस, रूपयौवन का चटकीला रंग एवं विलास की उष्ण गन्ध भरी हुई है, वह समस्त नाटक पर सौरभ-श्लथ वासन्ती समीर की भांति संचरण करती रहती है।

यही बात वस्तु-विधान और चरित्राङ्कन में है। प्रसाद की घटनाएँ रोमांस और रस से परिपुष्ट हैं। अंधेरी रात में मागंधी और शैलेन्द्र का मिलन, चाणक्य का सर्वस्व-त्याग, स्कन्दगुप्त और देवसेना की विदा, मालविका का बलिदान—सभी-कुछ एक मूक-कविता है। पात्रों की स्नायुओं में भी रस का

प्रभूत संचार हो रहा है। इनमें से कतिपय तो एकांत कवित्वमय हैं। उनका अस्तित्व ही नाटक में कविता की साँस फूँकने को होता है। ये पात्र प्रायः नारी-पात्र होते हैं जिनके जीवन के विरल मधुर चण फूल के समान खिलकर अपना सौरभ छोड़ जाते हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः और सब पात्र भी अपने स्रष्टा के कवित्व के भागी हुए हैं—चाणक्य के कर्म-कठोर व्यक्तित्व में भी बाल्यकाल की स्मृतियाँ भाँवरियाँ ले रही हैं। ये नाटक गद्य-गीतों का अक्षय भाण्डार हैं। उदाहरण के लिए—

१—"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौंदर्य का कोकिल 'कौन ?' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ! फिर उसी प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कम्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है और राजकुमारी वही काम-सङ्गीत की तान सौंदर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये। वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धांत का नहीं, काव्य का आग्रह है। देखिए स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य :—

"स्कन्दगुप्त—देवी, यह न कहो। जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुःखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इसी पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसंत श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र-कठोर हृदय से रोकूँ ?······

······देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट्, यदि

इतना भी न कर सके तो क्या ! सब क्षणिक सुखों का अन्त है । जिसमें सुखों का अन्त न हो, इस लिए सुख करना ही न चाहिए ! मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

(घुटने टेकती है; स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)"

—दोष—

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं ।

सबसे पहला दोष रंगमञ्च विषयक है । उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं । उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफ़ी गड़बड़ करेंगे । दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चाञ्चल्य नहीं है । अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है ।

दूसरा बड़ा दोष है एकता का अभाव । उसके लिये शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुःख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे । राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया । ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है । परंतु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना-बाहुल्य में फँस कर नाटक की एकता अस्त-व्यस्त हो गई है । इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिये अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं । स्कन्दगुप्त में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है ? चन्द्रगुप्त में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि कथा-वस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है ।

तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं । अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गतिविधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिये उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का ज़बर्दस्ती गला घोंटना पड़ा है । यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है ।

—महत्त्व—

इस प्रकार इन नाटकों का महत्व असम है । एक ओर जहाँ पाठक उनके दोषों को देख कर विक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और

कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रैजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की चेतना, उनके महान् कोमल चरित्र, उनके विराट्-मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय हैं ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उनकी ज्योति मलिन नहीं पड़ सकती।

: ७ :

गुलेरीजी की कहानियां

हमारे एक साहित्यिक मित्र ने जीवन के कुछ सिद्धान्त स्थिर कर रक्खे हैं। उनमें से एक यह भी है कि अध्ययन का मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतएव वे व्यक्तित्व के मूल्यांकन में विद्वत्ता को प्रायः अवगुण ही मानते हैं। उनका कहना है—और बात काफी हद तक ठीक भी है—कि विद्वत्ता के अनुपात से ही व्यक्ति की प्राणवत्ता में कमी होती जाती है। विद्वान् व्यक्ति प्रायः प्राणवान् नहीं रह पाता, उसके दृष्टिकोण में जीवन की ताजगी न रह कर पुस्तक-ज्ञान का बोझीलापन आ जाता है।

गुलेरीजी इस सिद्धान्त के अपवाद हैं। उच्च कोटि की विद्वत्ता के साथ ही उतनी ही प्राणवत्ता भी उनके व्यक्तित्व में पायी जाती है। वे अपने युग में शुद्ध प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे। पुरातत्व, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य, भाषा-विज्ञान—सभी में उनकी अबाध गति थी। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं और हिन्दी, बंगला, मराठी, अङ्गरेजी आदि आधुनिक भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। लैटिन, जर्मन और फ्रेन्च का भी उन्हें ज्ञान था। परन्तु अपने इस असाधारण पांडित्य को उन्होंने सदैव जीवन का साधन ही माना, साध्य नहीं बनने दिया। उनकी जीवन-चेतना इतनी प्रबल थी कि पांडित्य उसको पुष्ट तो कर सका पर दबा नहीं सका।

गुलेरीजी का संक्षिप्त जीवन सभी प्रकार से सफल ही कहा जा सकता है। वे पुत्र, वित्त और लोक—तीनों ओर से सुखी थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली थी। हाई-स्कूल और बी. ए. में वे सर्व-प्रथम रहे थे। यौवन-काल में भी सफलता उनके चरण चूमती रही। पहले वे जयपुर राज्य के सभी सामान्त-पुत्रों के अभिभावक र े। बाद में उन्होंने बनारस हिंदू यूनीवर्सिटी में कॉलेज ऑव ओरियण्टल लर्निङ्ग ऐण्ड थियॉलॉजी के प्रिंसिपल पद को सुशोभित किया। लोक-जीवन में भी उनको अक्षय गौरव प्राप्त हुआ था। काशी-नागरी-प्रचारिणी का सभापतित्व, देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक-माला एवं सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन, अनेक लेखों का स्वदेशी-विदेशी विद्वानों द्वारा अभिनन्दन—ये सब उनके गौरव की स्वीकृति के विभिन्न रूप थे। परन्तु गौरव दीर्घजीवी नहीं होता! उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में ही

समस्त दिशाओं को उद्भासित कर यह प्रकाश-पुंज भी तिरोहित हो गया और विद्वान् लोग यह अनुमान लगाते ही रह गये कि अगर कुछ और समय मिलता तो शायद वह हिन्दी जगत् को समग्रतः आच्छादित कर लेता।

गुलेरीजी ने हिन्दी-साहित्य के अनेक विभागों को समृद्ध किया। भाषा-तत्व और पुरातत्व पर उनका पर्याप्त साहित्य विद्यमान है। पुरानी हिन्दी और शिशुनाग-मूर्तियों पर लिखे हुए उनके लेख आज भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु मैं उनके इस साहित्यांग को स्पर्श नहीं करूँगा, क्योंकि मैं उसकी मीमांसा करने का अधिकारी नहीं हूँ। मैं तो केवल उनके सृजनात्मक साहित्य, उनकी कहानियों की ही विवेचना करता हुआ यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि किस प्रकार उनकी सृजन-प्रतिभा अविकसित ही रह गई और कलाकार के रूप में वे अपना प्राप्य न पा सके।

—गुलेरीजी की कहानियाँ—

अभी एक-आध वर्ष पहले तक सब का यही ख़याल था कि गुलेरीजी केवल एक ही कहानी 'उसने कहा था' लिख कर अमर हो गये। विद्वानों ने इस बात का पूरे विश्वास के साथ लिखित रूप में भी स्वीकृत कर लिया था। परन्तु कुछ दिन हुए गुलेरीजी की दो और कहानियाँ सामने आईं—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'—और आलोचक की यह उलझन कि गुलेरीजी ने एकसाथ ही ऐसी 'ए वन्' कहानी कैसे लिख डाली, कुछ-कुछ सुलझी। इस दशा में उन्होंने तीन पग रखे। पहला था 'सुखमय-जीवन', दूसरा 'बुद्धू का काँटा' और तीसरा 'उसने कहा था'। सम्भव है, उन्होंने कुछ और भी प्रयत्न किये हों जो आज उपलब्ध नहीं।

—दृष्टिकोण—

जीवन के प्रति गुलेरीजी का दृष्टिकोण, जैसा मैंने आरम्भ में कहा है, सर्वथा स्वस्थ है। उनके साहित्य का आधार छायानुभूतियाँ नहीं हैं, जीवन की मांसल अनुभूतियाँ ही हैं। निदान उनमें मानसिक ग्रन्थियों का सर्वथा अभाव मिलता है। जीवन में नीति और सदाचार को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुये भी वे सैक्स के नाम पर बिदकने वाले आदमियों में से नहीं थे। जहाँ-कहीं भी प्रसंग आया है उन्होंने मुक्त भाव से बिना झिझके उसकी स्पष्ट व्यंजना की है—यहाँ तक कि 'उसने कहा था' कहानी में उद्धृत पंजाबी के उस गाने में 'कर लेणा नाड़े दा सौदा अड़िये' के स्थान पर भी उन्होंने

शर्मा कर चिह्न-बिन्दु नहीं लगाये, साफ़ ही पंक्ति को उद्धृत कर दिया है। यह उनके मन के स्वास्थ्य का असंदिग्ध प्रमाण है। एक स्थान पर उन्होंने स्वयं ही इस सत्य का उद्घाटन किया है : "जो कोने में बैठ कर उपन्यास पढ़ा करते हैं उनकी अपेक्षा खुले मैदान में खेलने वालों के विचार अधिक पवित्र होते हैं।" गुलेरीजी प्रकृति के इन सच्चे चित्रों को ही देखते थे, उपन्यासों की मृगतृष्णा में चमत्कार नहीं ढूंढ़ते थे।

उनकी कहानियों में स्पष्ट ही शास्त्र के बँधे हुए वातावरण से प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण की ओर जाने की प्रवृत्ति है। उनके जीवन-मान सर्वथा प्राकृतिक हैं। कृत्रिम मान—चाहे उन पर सभ्यता और नागरिक शिष्टाचार का कितना ही मुलम्मा चढ़ा हो, उन्हें सह्य नहीं थे। दृष्टिकोण का यह स्वास्थ्य रस, विवेक, और विचार—तीनों तत्वों के उचित सम्मिश्रण का फल था। उसमें अन्तरभिमुखता और बहिर्मुखता का वांछित संयोग था। जीवन के रस का उन्होंने सम्यक् उपभोग किया परन्तु अपने जागृत विवेक के कारण उसमें बहे नहीं। इससे अनुभूति में स्थिरता आई। उधर, विचार ने उसको गंभीरता और परिपक्वता प्रदान की। जीवन-तत्वों का यही सम्यक् संतुलन उनके जीवन और साहित्य की सफलता का कारण था।

—सामाजिक चेतना—

ऐसे व्यक्ति की सामाजिक चेतना स्वभावतः ही बलवती होनी चाहिए। और वास्तव में हिन्दी कहानी के उस प्रसवकाल में इस प्रकार की सामाजिक चेतना होना आश्चर्य की बात है। उन्होंने दृष्टि को अपने मन के राग-द्वेषों पर ही न गड़ा कर बाहर जीवन की धूप में विचरने दिया और समाज की सामयिक समस्याओं के प्रति जागरूक रहे। उदाहरण के लिए पर्दे की अस्वस्थ प्रथा, उस समय बढ़ती हुई सभ्यता की दाम्भिक चेतना, विवाह से सम्बद्ध दहेज़-मुहूर्त आदि की प्रथाओं पर वे बीच-बीच में छींटे छोड़ते हुए चले हैं।

इसके साथ ही कुछ अन्य सामयिक प्रश्नों पर भी, जैसे हिन्दी में ग्रहण किए गये संस्कृत के तत्सम शब्दों के उच्चारण पर भी, उन्होंने मौक़ा देखकर फ़िकरा कस दिया है। संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होते हुए भी गुलेरीजी यह

मानते थे कि संस्कृत तत्सम शब्दों का उच्चारण हिन्दी-व्याकरण के नियमों के अनुकूल ही होना चाहिए आज से तीस वर्ष पूर्व एक संस्कृत के पण्डित की इस प्रकार की धारणाएँ कितनी प्रगतिशील थीं यह देखकर उनके व्यक्तित्व की शक्ति का पता चलता है। इस दृष्टि से यह व्यक्ति अपने समय से कितना आगे था !

—हास्य—

ऐसे खुले हुए स्वभाव के व्यक्ति में निश्चय ही हास्य की अत्यन्त प्रखर भावना होगी। गुलेरीजी के हृदय में कुढ़न का विष नहीं था, संतोष का अमृत था; इसीलिए उनके हास्य में भी कुढ़न का विष नहीं, संतोष का अमृत है। उन्होंने स्वस्थ दृष्टि से अपने चारों ओर बहुत ग़ौर से देखा। जीवन और जगत में सर्वत्र उन्हें ऐसी विचित्रता दिखाई पड़ी जिससे स्वभावतः ही उनके हृदय में गुदगुदी पैदा हो जाती थी। वास्तव में उनका हास्य एक ऐसे व्यक्ति का हास्य है जिसके हृदय में जीवन के प्रत्येक सुख से सहानुभूति है, जो विकृतियों में भी अद्‌भुत वैचित्र्य और आकर्षण पाता है, जिसके हृदय में किसी प्रकार का दम्भ या मैल नहीं है और जो खुलकर हँसता है। एक उदाहरण लीजिये। अमृतसर के इक्के-ताँगे वालों की बोलियों की तारीफ़ करते हुए आप फ़र्माते हैं—"क्या मजाल है कि जी और साहब सुने बिना किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बारबार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं : हटजा जीणे जोगिये, हटजा करमा वालिये, हटजा पुत्ताँ प्यारिये, बचजा लम्बी वालिए ! समष्टि में इसका अर्थ है तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी आयु तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है—बचजा !"

दूसरी बात जो गुलेरीजी के हास्य के विषय में जानने योग्य है यह है कि वे हास्य की सृष्टि नहीं करते, उद्‌बुद्धि-मात्र करते हैं उनका हास्य साध्य नहीं, साधन है। वे केवल हास्य के लिए परिस्थिति का सृजन नहीं करेंगे वरन् उपस्थिति परिस्थिति में ही हास्य की तरंग पैदा कर देंगे। कहीं-कहीं तो गम्भीर परिस्थिति को भी वे हँसी से गुदगुदा देते हैं। 'सुखमय जीवन' के अन्त में परिस्थिति में काफ़ी खिंचाव आ गया है परन्तु ज्योंही उत्तेजना शान्त होती

है और परिस्थिति में लोच आता है, गुलेरीजी फ़ौरन ही उसें गुदगुदा देते हैं। बेचारे वृद्ध गुलाबराय वर्मा की आँखों में आँसू तो वास्तव में मानसिक स्तब्धता का अन्त हो जाने के कारण—दूसरे शब्दों में, क्रोध के सहसा आनन्द में परिणत हो जाने के कारण—आते हैं, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि "वृद्ध की आँखों पर कमला की माता की विजय होने के क्षोभ के आँसू थे या घर बैठे पुत्री को योग्य पात्र मिलने के हर्ष के आँसू थे? राम जाने!" अच्छा, और यह सन्देह होता है उस व्यक्ति को जो स्वयं ऐसी ही मानसिक स्थिति में होकर गुज़र चुका है! इस प्रकार गुलेरीजी के पात्र कभी-कभी अपने पर भी हँस लेते हैं।

गुलेरीजी अधिकतर अपने पात्रों पर नहीं हँसते—उनके साथ हँसते हैं। इसलिए उनके हास्य में विनोद की मात्रा अधिक रहती है। इनकी कहानियाँ विनोद की फुलझड़ियाँ छोड़ती हुई रस-दिशा में बढ़ती हैं। विनोद के अतिरिक्त वाक्-चापल्य और वाक्-चातुर्य्य का भी सम्यक् उपयोग उनमें मिलता है। लहनासिंह और नक़ली लेफ्टिनेन्ट साहब की बातचीत उसका सुन्दर उदाहरण है। व्यंग्य का प्रयोग उन्होंने अपेक्षाकृत कम किया है। जहाँ है वहाँ अत्यन्त महीन और मधुर है। किसी गम्भीर नैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर सुधार करने के लिए वे किसी को हास्य द्वारा प्रताड़ित नहीं करते।

—रस—

इन सब गुणों के होते हुए भी गुलेरीजी की कहानियों का प्रमुख आकर्षण तो रस ही है। यह रस उथली रसिकता या मानसिक विलासिता का तरल द्रव नहीं है, जीवन के गम्भीर और स्वस्थ उपभोग में से खींचा हुआ गाढ़ा रस है। उसमें एक बलिष्ठ व्यक्तित्व का वज़न है। 'बुद्धू का काँटा' की परिणति में काफ़ी रस है। 'उसने कहा था' कहानी का आरम्भ चंचल-मधुर है। पर अन्त में तो जैसे सारी ही कहानी रस में डूब जाती है। शैशव की उस मीठी घटना से माधुर्य्य और लहनासिंह के पुरुषार्थी व्यक्तित्व से शक्ति प्राप्तकर अन्त में उसके बलिदान की करुणा कितनी गम्भीर हो जाती है। आप देखें कि रति, हास, ओज और कारुण्य—इनके मिश्रण से रस का जो परिपाक होता है वह अत्यन्त ही प्रगाढ़ और पुष्ट है, और यह रस-सिंचन घटनाओं औ परिस्थितियों में ही नहीं है, वर्णनों में भी स्थान-स्थान पर इसकी रसीली मुस्कराहट मिलती है। उदाहरण के लिए—

(१) "आँखों के डेले काले, कोए सफ़ेद नहीं कुछ मटियाले, और

पिघलते हुए। जान पड़ता था कि अभी पिघलकर बह जायेंगे। आँखों के चौतरफ हँसी, ओठों पर हँसी और सारे शरीर पर नीरोग स्वास्थ्य की हँसी।''

(२) ''पहाड़ी ज़मीन, बिना पानी सींचे हुए हरे मख़मल के गलीचे से ढँकी हुई ज़मीन, उस पर जंगली गुलदाऊदी की पीली टिमकियाँ और बसन्त के फूल, आलू-बुखारे और पहाड़ी करोंदे की रज से भरे हुए छोटे-छोटे रंगीले फूल जो पेड़ का पत्ता भी न दिखने दें; क्षितिज पर लटके हुए बादलों की-सी बरफीली पहाड़ों की चोटियाँ जिन्हें देखते आँखें अपने-आप बड़ी हो जातीं और जिनकी हवाकी साँस लेने से छाती बढ़ती हुई जान पड़ती; नदी से निकाली हुई छोटी-छोटी असंख्य नहरें जो साँपके-से चक्कर खा-खाकर फिर प्रधान नदी की पथरीली तलेटी में जा मिलतीं।''

—भाषा—

सबसे अधिक आश्चर्य-जनक है गुलेरीजी की भाषा। ऐसी प्रौढ़ भाषा उस समय तो कोई लिख ही क्या सकता था, गद्य के समुन्नत युग में भी कोई लिख सका है,इसमें मुझे सन्देह है! प्रेमचन्द की भाषा में इतनी प्रौढ़ि और शक्ति कहाँ है; और शुक्ल जी की भाषा में जीवनकी इतनी स्फूर्ति और यथार्थता कहाँ है?

आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व जब हिन्दी का गद्य व्याकरण की पुस्तकों से बाहर आते ही लड़खड़ाने लगता था, गुलेरीजी को भाषा की लाक्षणिक और व्यंजनात्मक शक्तियों पर कितना व्यापक अधिकार था! उनकी भाषा में जीवन-गत विभिन्न परिस्थितियों को—विभिन्न पात्रों की-विभिन्न मनोदिशाओं को—व्यक्त करने की अद्‌भुतक्षमता थी। और उन्होंने सदैव ही भाषा के वास्तविक रूप को बनाये रक्खा है, इसलिए उसका माधुर्य्य, ओज और प्रसाद स्वाभाविक ही है। उन्होंने कहीं भी न तो माधुर्य्य लाने के लिये शब्दों की हड्डियाँ तोड़कर उन्हें मुलायम बनाने की कोशिश की है और न ओज के लिए तीलियाँ बाँधकर ही उनको कड़ा और खड़ा करने की कोशिश की है।

इस व्यक्ति के जीवन की सफलता का यही रहस्य था कि इसने अपने पाण्डित्य की गम्भीरता को जीवन के उपभोग में अत्यन्त सतर्कता से प्रयुक्त किया। इसीलिए,इसके व्यक्तित्व में स्फूर्ति और गम्भीरता का अद्‌भुत योग था! ठीक यही रहस्य उनकी भाषा की समर्थता का भी है—यहाँ भी उन्होंने अपनी व्यापक शब्द-शक्ति और भाषागत पाण्डित्य का उपयोग जीवनगत भाषा गढ़ने में किया। प्राणवान् व्यक्ति में का पाण्डित्य जिस प्रकार जीवनगत

अनुभव से शक्ति और उसका जीवनगत अनुभव पाण्डित्य से समृद्धि पाता रहता है इसीप्रकार साहित्य की भाषा जीवन की भाषा से शक्ति और जीवन की भाषा साहित्य की भाषा से समृद्धि पाती रहती है। और किसी व्यक्ति के लिए ये दो स्रोत जितने ही अधिक खुले होंगे उतनी ही समृद्ध और सशक्त उसकी भाषा होगी। गुलेरीजी को यह सुविधा भरपूर प्राप्त थी।

गुलेरीजी के बाद इस विषय का उनसे गुरुतर उदाहरण हमारे पास राहुल का है। परन्तु राहुल में एक दोष है—उनमें ह्यूमर नहीं। इसीलिए उनकी भाषा में समृद्धि और शक्ति अधिक होते हुए भी स्फूर्ति और फड़क उतनी नहीं है जितनी कि गुलेरीजी की भाषा में।

—टेकनीक—

गुलेरीजी के उपर्युक्त गुणों का अब तक जो उल्लेख किया गया है, उससे आप यह मत समझिये कि उनकी सभी कहानियाँ सर्वथा पूर्ण और निर्दोष हैं। यह बात बिल्कुल नहीं है। उनकी अन्तिम कहानी 'उसने कहा था' तो अवश्य हिंदी की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है, परन्तु पहली दोनों कहानियों में बहुत-कुछ कच्चापन है। 'सुखमय जीवन' में तो वास्तव में कहानी अच्छी तरह बन भी नहीं पायी। उसकी चरम घटना में विस्मय का अत्यन्त अस्वाभाविक और अतिरंजित प्रयोग है। 'बुद्धू का काँटा' इससे कहीं अधिक सफल कहानी है, परन्तु उसमें भी अतिरंजना और अप्रासंगिकता है। इसकी नायिका—(शायद यह पारिभाषिक और कृत्रिम नागरिक विशेषण उसके लिए गुलेरीजी स्वीकार न करते)—कुछ अधिक वाग्वीर और पहलवान है। इसके अतिरिक्त उस पहाड़ी टट्टू वाले की सारी कहानी ही अप्रासंगिक है।

परन्तु जैसा कि मैंने आरम्भ में कहा है, ये दोनों कहानियाँ दो पहिली मंजिलें हैं। 'सुखमय जीवन' में गुलेरीजी की कहानी-कला का शैशव है, 'बुद्धू का काँटा' में किशोरावस्था और 'उसने कहा था' में आकर वह पूर्ण योषिता हो गई है। चूँकि वह समय से पूर्व ही पूर्णत्व को प्राप्त हो गई थी इसीलिए शायद उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। बहुत होनहार बालक अधिक दिन जीवित नहीं रहते।

: ८ :

छायावाद की परिभाषा

आज से बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व, युग की उद्‌बुद्ध चेतना ने वाह्य अभिव्यक्ति से निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावाद के रूप से अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियों ने हमारी कर्म-वृत्ति को अहिंसा की ओर प्रेरित किया उन्हीं ने भाव-वृत्ति को छायावाद की ओर। उसके मूल में स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह था।

पिछले महासमर के उपरान्त योरप के जीवन में एक निस्सार खोखलापन आ गया था। जीवन के प्रति विश्वास ही नष्ट हो गया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभव के होते हुए भी जीवन में एक स्पन्दन था। भारत की उद्‌बुद्ध चेतना युद्ध के बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नों की चञ्चलता थी। वास्तव में भारत की आत्म-चेतना का यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़ने के लिये पङ्ख फड़फड़ा रही थीं। भविष्य की रूप-रेखा नहीं बन पाई थी, परन्तु उसके प्रति मन में इच्छा जग गई थी। पश्चिम के स्वच्छन्द विचारों के सम्पर्क से राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों के प्रति असन्तोष की भावना मधुर उभार के साथ उठ रही थी, भले ही उनको तोड़ने का निश्चित विधान अभी मन में नहीं आ रहा था। राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधारवाद की दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतन में जाकर बैठ रही थीं, और वहाँ से क्षति पूर्ति के लिये छाया-चित्रों की सृष्टि कर रही थीं। आशा के इन स्वप्नों और निराशा के इन छाया-चित्रों की काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलाई।

छायावाद में आरम्भ से ही जीवन की सामान्य और निकट वास्तविकता के प्रति एक उपेक्षा, एक विमुखता का भाव मिलता है। नवीन चेतना से उद्दीप्त कवि के स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति के लिये चञ्चल हो रहे थे, परन्तु वास्तविक जीवन में उसके लिये कोई सम्भावना नहीं थी। अतएव स्वभावतः ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमान से कुण्ठित होकर स्वर्ण-अतीत या आदर्श भविष्य में तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तव से

ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थीं—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अञ्चल में शरण लेती थीं—स्थूल से सहम कर सूक्ष्म की उपासना करती थीं। आज के आलोचक इसे पलायन कह कर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तव को वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूप में मानसिक कुण्ठाओं पर आश्रित होते हुए भी प्रत्यक्ष में पलायन का रूप नहीं है। वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छायावाद की मूल वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियों की इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्ति के आधार पर व्याख्या की जा सकती है।

—व्यक्तिवाद—

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपों में व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य है व्यक्तिवाद। व्यक्तिवाद के दो रूप हैं। एक, विषय पर विषयी की मनसा का आरोप अथवा वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रँग कर देखना। दूसरा, समष्टि से निरपेक्ष होकर व्यष्टि में ही लीन रहना।

द्विवेदी युग की कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रिया में छायावाद की कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे, उस कविता का विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था: द्विवेदी युग का कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावाद की कविता का विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ: छायावाद का कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्तिभाव प्रसाद में आनन्दभाव, निराला में अद्वैतवाद, पन्त में आत्मरति और महादेवी में परोक्षरति के रूप में प्रकट हुआ।

—शृङ्गारिकता—

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावाद की कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुंठाओं से, और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय छायावाद का जन्म हुआ उस समय स्वच्छन्द विचारों के आदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज में आकर्षण बढ़ रहा था, परन्तु सुधार-युग की कठोर नैतिकता से सहमकर वह अपने में ही कुण्ठित रह जाता था। समाज के चेतन मन पर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था। कि इस प्रकार की स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पा सकती थीं। निदान वे अवचेतन में उतरकर वहाँ से अप्रत्यक्षरूप

में व्यक्त होती रहती थी : और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारी का अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार। छायावाद का यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार से व्यक्त होता है। एक तो प्रकृति के प्रतीकों-द्वारा : प्रकृति पर नारी-भाव के आरोप द्वारा। दूसरे नारी के अतीन्द्रिय सौन्दर्य-द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीर के अमांसल चित्रण द्वारा।

छायावाद में शृंगार के प्रति उपभोग का भाव न मिल कर, विस्मय का भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावाद का कवि प्रेम को शरीर की भूख न समझ-कर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारी के अङ्गों के प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्क से सहम कर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहल में परिणत हो गया है। इसी कौतूहल ने छायावाद के कवि और नारी के व्यक्तित्व के बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डाल दिए हैं: और वास्तव में छायावाद के झिलमिल काव्य-चित्रों का मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंग का वैभव उन्हीं से उत्कीर्ण होता है और इन्हीं पर आश्रित होने का कारण छायावाद की काव्य-सामग्री के अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

—प्रकृति पर चेतना का आरोप—

छायावाद में प्रकृति के चित्रों की प्रचुरता है। कुछ विद्वानों की तो यह धारणा है कि छायावाद का प्राण-तत्त्व ही प्रकृति का मानवीकरण अर्थात् प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप है। यह सत्य है कि छायावाद में प्रकृति को निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मान कर ऐसी चेतन सत्ता माना गया है जो अनादिकाल से मानव के साथ स्पन्दनों का आदान-प्रदान करती रही है। परन्तु फिर भी प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोप छाया-वाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है; और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छाया-चित्र उठें उनका चित्रण है जो प्रवृत्ति प्रकृति पर मानव-व्यक्तित्व का आरोपण करती है वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है; वह मन की कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतन में पहुँच कर

सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा अपने को व्यक्त करती है। निदान प्रकृति का उपयोग यहाँ दो रूपों में हुआ है। एक कोलाहल-मय जीवन से दूर शान्त-स्निग्ध विश्राम-भूमि के रूप में और दूसरे प्रतीक रूप में। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवन में नहीं मिल सके वह प्रकृति में प्रचुर मात्रा में मिले, अतएव कवि की मनोकामनाएँ बार-बार उसी के मधुर अञ्चल में खेलने लगीं और प्रकृति के प्रति आकर्षण बढ़ जाने से स्वभावतः उसी के प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

—मूल-दर्शन—

जैसा कि सुश्री महादेवी वर्मा ने कहा है, छायावाद का मूलदर्शन सर्वात्मवाद है—प्रकृति के अन्तर में प्राण-चेतना की भावना करना सर्वात्मवाद की ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओं से समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृति में स्पन्दित जीवन-चेतना की पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातन से चली आ रही है। छायावाद से समस्त जड़-चेतन को मानव-चेतना से स्पन्दित मान कर अङ्कित किया गया है,और इस भावना को यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रमका भेद है। छायावाद का कवि आरम्भ से ही सर्वात्मवाद की अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओं में से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्ष का निषेध करना है। और इसका प्रमाण यह है कि पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूति का होना उसके लिए सहज सम्भव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्भूत हुई उन पर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्था में तो कोई विशेष परिष्कृति भी सम्भव नहीं थी—वह उन कवियों का तारुण्य था जब मन की सहज भावनाएँ अभिव्यक्ति के लिए आकुल हो रही थीं। बाद में प्रसाद या महादेवी भारतीय

अध्यात्म-दर्शन के सहारे, अथवा पन्त देश-विदेश के भौतिक सर्वहितवादी दर्शनों के आधार पर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भले ही कर पाये हों, परन्तु आरम्भ से कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृति पर मानवता का आरोप कम-से-कम आरम्भ में तो निश्चय ही अनुभूति का तत्व न होकर अभिव्यक्ति का प्रकार था। शृंगार और स्वच्छन्दता की भावनाएँ, जिन्हें परिस्थिति के अनुरोध से प्रकृत रूप में अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृति के रूपकों से अन्योक्ति आदि के द्वारा व्यक्त होती थीं। बस, इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्ति की कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवाद का बुद्धि द्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूति के लिए उस समय छायावाद के किसी भी कवि को चैलेञ्ज किया जा सकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियों से छायावाद का निर्माण हो रहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट संस्कार के कवियों की जीवन के प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवाद की तरह किसी ठोस वर्जनी बौद्धिक जीवन-दर्शन से मन को टकरा-टकरा कर प्रेरणा नहीं ली जा रही थी।

यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है। बहिरङ्ग-जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना ने अन्तरङ्ग में प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ—जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्य में आ जाना सम्भव ही था; और वे आईं। कुछ आध्यात्मिक क्षण तो प्रत्येक भावुक के जीवन में आते ही हैं। अतएव छायावाद की रहस्योक्तियाँ एक प्रकार से जिज्ञासाएँ ही हैं। वे धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मन की छलना पर ही आश्रित हैं।

छायावाद के ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हीं में अभिन्न रूप से गुथा हुआ आपको विषाद का नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठा का परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्या की कालिमा न होकर प्रत्यूष की चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजा के विषाद और निशा-निमन्त्रण के विषाद की तुलना मेरे आशय को स्पष्ट कर देगी। इसका कारण यह है कि छायावाद की दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चन के समय तक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) हो चुकी थी। अतः छायावाद की निराशा भी अनुभूत होने के कारण श्रान्त और जर्जर नहीं हो गई थी; वह स्पन्दित

और स्फूर्त थी। छायावाद के चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेम का यही व्याख्यान है।

—भ्रान्तियाँ—

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रांतियाँ हैं :—

पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरम्भ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा। उस समय के आलोचक इसी भ्रम का पोषण करते हुए उसे कोसते रहे। यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल हो गया है तो भी छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिंतन का मृगचर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे-बिना उसका महत्व समझने में असमर्थ हैं। यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।

इसके विरोध में, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छायावाद एक बौद्धिक युग की सृष्टि है। उसका जन्म साधना से—यहाँ तक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वास से भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकों को यथा-तथ्य मानकर उस पर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रांतियों का पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन न कर सकने के कारण—और उन अपराधियों में मैं भी हूँ—केवल वाह्य साम्य के आधार पर छायावाद को योरुप के रोमांटिक काव्य-सम्प्रदाय से अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनों की परिस्थितियों में भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है। परन्तु फिर भी यह कैसे भूला जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमांटिक काव्य के पीछे फ्रान्स का सफल विद्रोह था, जिसमें जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जागृत देशों में एक नवीन आत्म-विश्वास की लहर दौड़ा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था; उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक

निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तमुर्खी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रम को जन्म दिया है आचार्य शुक्ल ने, जो छायावाद को शैली का एक तत्वमात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेश के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति छायावाद शैली का एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रम का कारण है शुक्लजी की वस्तु-परक दृष्टि, जो वस्तु और अभिव्यंजना में निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तव में उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायों को छोड़कर जो जानबूझ कर शैली-गत प्रयोगों को लेकर चले हैं, कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यञ्जना का प्रकार नहीं हो सकती। जिन अभिव्यञ्जनावाद और प्रतीकवाद का उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीक के प्रयोग नहीं हैं: उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचारधारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधारा के लिए अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा अनिवार्य्य है और जहाँ अनुभूति की अन्तर्प्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे हो सकता है? (छायावाद निश्चित ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूति अन्तर्प्रेरणा असंदिग्ध है। उसकी अभिव्यक्ति की विशेषता भाव-पद्धति की विशिष्टता के ही कारण है।

—निष्कर्ष—

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव-पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है। जिस प्रकार भक्ति काव्य जीवन के प्रति एक प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक-दूसरे प्रकार का, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकार का भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोण का आधेय नव-जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तमुर्खी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावाद का काव्य प्रथम श्रेणी का विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठा को प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। प्रथम श्रेणी के काव्य की सृष्टि तो पारदर्शी कवि के द्वारा ही सम्भव

है, जिसके लिए यह जीवन और जगत् अनुभूत हों और जो सत्य को प्राप्त कर चुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसार में कितनों को प्राप्त है ? इसके अतिरिक्त, संसार का अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो हैं। उसकी तीव्रता और वैभव-विलास का जन्म प्रायः कुण्ठा से ही तो होता है।

इस सीमा को स्वीकार कर लेने के उपरान्त छायावाद को अधिक-से-अधिक गौरव दिया जा सकता है। और सच ही, जिस कविता ने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक वृहत् समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि पर धार रखकर उसको इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रङ्ग वाले स्वप्नों में गुदगुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमग कर दिया; और अन्त में जिसने कामायनी का समृद्ध-रूपक, पल्लव और युगान्त की कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिका को अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविता का गौरव अक्षय है ! उसकी समृद्धि की समता हिन्दी का केवल भक्ति-काव्य ही कर सकता है।

: ८ :

प्रगतिवाद और हिन्दी-साहित्य

प्रगति का साधारण अर्थ है आगे बढ़ना। जो साहित्य जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हो वही प्रगति-शील साहित्य है। इस दृष्टि से विचार करेंगे तो तुलसीदास सबसे बड़े प्रगतिशील लेखक प्रमाणित हैं। भारतेन्दु बाबू और द्विवेदी-युग के लेखक, मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त, भी प्रगतिशील लेखक हैं। परन्तु आज का प्रगतिवादी इन में से किसी को भी प्रगतिशील नहीं मानेगा—ये सभी तो उसके मतानुसार प्रतिक्रियावादी लेखक हैं। अतः प्रगति का अर्थ आगे बढ़ना अवश्य है, परन्तु एक विशेष ढङ्ग से, एक विशेष दिशा में। उसकी एक विशिष्ट परिभाषा है। इस परिभाषा का आधार है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है, पहिले इसे समझ लें।

इसमें दो शब्द हैं : भौतिकवाद और द्वन्द्वात्मक। भौतिकवाद का सार यह है कि संसार का मूलाधार पञ्चभूत हैं—पञ्चभूत, अर्थात् पदार्थ : मैटर। उसके सभी दृश्य, सभी सूक्ष्म-स्थूल रूप पदार्थ से ही बने हुये हैं। शरीर की परिचालिका शक्ति मस्तिष्क है और मस्तिष्क भी शरीर की अन्य इन्द्रियों की भाँति भौतिक ही है। बाह्य-जगत् की घटनाओं की हमारी इन्द्रियों पर प्रति-क्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप एक कम्पन होता है। शरीर का वह सूक्ष्मतम और सबसे अधिक विकसित अवयव जो इस कम्पना का अनुभव और समन्वय करता है मस्तिष्क कहलाता है। आत्मा कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है, अधिक से अधिक उसे मस्तिष्क के आगे की एक विकसित अवस्था-मात्र माना जा सकता है। अर्थात् वह भी, अगर है तो, पदार्थ की ही उद्‌भूति है। परन्तु यह पदार्थ क्रियाहीन या गतिहीन नहीं स्वभाव से ही गतिशील है और इसमें गति पैदा करने के लिए ब्रह्म के ईक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह तो पदार्थ के अन्तर्गत वर्तमान विरोधी तत्वों के सतत संघर्ष का सहज परिणाम है। जिस प्रकार जगत् को उत्पन्न करने के लिए किसी आधिदैविक शक्ति की आवश्यकता नहीं, इसी

प्रकार उसके संरक्षण और विनाश के लिए भी नहीं। क्योंकि जो पदार्थ अपनी परस्पर-विरोधी शक्तियों के संघर्ष के परिणाम-स्वरूप स्वयं गतिशील है उसमें स्वस्थ रूप का उद्भव और अस्वस्थ रूप का लय आप-से-आप होता रहता है।

इसलिए विश्व में केवल एक ही सत्ता है—आधिभौतिक! आध्यात्मिक और आधिदैविक सत्ताएँ मनकी छलना-मात्र हैं। "संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं, वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्नि-शिखा है जो अंशतः ऊर्ध्व-विकास और अंशतः अधःपतन की ओर उन्मुख है।"

बस, गति की प्रेरक इन्हीं परस्पर-विरोधी शक्तियों के, जो स्वयं वस्तु में वर्तमान रहती हैं, संघर्ष या द्वन्द्व का अध्ययन करते हुए जीवन-विकास का अध्ययन करना ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वह दर्शन है जो जीवन को ऐसी प्रगतिशील भौतिक वास्तविकता मानता है जिसके मूल में विरोधी शक्तियों का संघर्ष चल रहा है! इन विरोधी शक्तियों में निश्चय ही एक विनाश के पथ पर होगी, दूसरी उत्थान के पथ पर। चैतन्य मस्तिष्क का कार्य यही है कि इस तथ्य को ढूँढ निकाले और प्रगतिशील शक्तियों को सहायता दे और विनाशोन्मुख शक्तियों का, जो अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए व्यर्थ ही छटपटा कर विकास या प्रगति में बाधा डालती हैं, बलपूर्वक नाश करे।

इस प्रकार, जगत् का एक मात्र सत्य भौतिक जीवन ही है। उसी का स्वस्थ उपभोग हमारा ध्येय है, अन्य किसी भी काल्पनिक सुख की खोज में भटकना पलायन है। और इस भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका आधार है अर्थ। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष में प्रगतिवादी केवल अर्थ का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। काम को वह अर्थ के आश्रित मानता है और धर्म को भी भौतिक अर्थ में जीवन की विधि-मात्र मानते हुए अर्थ के ही आश्रित मानता है। मोक्ष को आध्यात्मिक अर्थ में वह एक दम अस्वीकृत कर देता है।

आज के समय में दो विरोधी शक्तियाँ हैं: पूँजीवाद और समाजवाद। पूँजीवाद, जिसका साम्राज्यवाद भी एक अङ्ग है, विनाशोन्मुख है; और समाजवाद विकासोन्मुख। निदान प्रगतिवादी समाजवाद का पोषक है और

पूँजीवाद का शत्रु। बल्कि यों कहिये कि प्रगतिवाद समाजवाद की ही साहित्यिक अभिव्यक्ति है। साहित्य सामाजिक कर्म-विधान का एक सक्रिय अङ्ग है। अतएव उसे समाज-व्यवस्था के संरक्षण में वांछित सहयोग देना चाहिए! हमारे समाज की जागृत शक्तियाँ वे लोग हैं जो अब तक दलित और शोषित रहे हैं। प्रगतिवादी साहित्य उनकी सहायता करता है, उनके पक्ष में आन्दोलन करता है, उनकी शक्ति को संगठित करता है, उनकी पीड़ा को मुखर करता है और उन पर होने वाले अत्याचार का तीव्र विरोध करता है। इस प्रकार उसके अन्तर्गत मानववाद, क्रांति और विशेष परिस्थितियों में—जैसे पराधीनता में अथवा बाहर से हमला होने पर—देश-भक्ति भी आजाती है, यद्यपि इनमें से कोई भी उसका अनिवार्य तत्त्व नहीं है।

समाजवाद से सहज सम्बन्ध होने के कारण प्रगतिवादी साहित्य को मुख्यतः सामाजिक या सामूहिक चेतना मानता है, वैयक्तिक नहीं। जिस प्रकार समाजवाद समष्टि या समूह के हितों की चिंता और रक्षा करता है, व्यक्ति के नहीं, उसी प्रकार प्रगतिशील-साहित्य समाज के सुख-दुःख की अभिव्यक्ति को ही महत्व देता है, व्यक्ति के सुखदुःख की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौंदर्य को अपने हृदय या दूसरे की आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न—मिथ्या है; और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परि-चायक है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार प्रगतिशील-साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है।

इस प्रकार, दृष्टिकोण बदल जाने से आदर्श और मूल्यों का भी बदल जाना अनिवार्य है। गत युग में जो सत्य-शिव-सुन्दर था वह आज विपरीत अर्थ रखता है। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक ही है—जनहित। आज सत्य से तात्पर्य है भौतिक वास्तविकता का, शिव का अर्थ है भौतिक जीवन—सामाजिक स्वास्थ्य—में सहायक होने वाला, और सुन्दर का आशय है स्वाभाविक एवं प्रकृत। पहले प्रकृत भावनाओं का संयम, दमन और गोपन ही उनका परिष्कार और संस्कार माना जाता था, परन्तु आज इस प्रकार का दमन और गोपन अनावश्यक ही नहीं हानिकारक भी समझा जाता है। फ्रॉयड ने दमन और गोपन का पर्दा फाड़ कर, उसको तह में छिपी हुई कुत्साओं का

प्रदर्शन किया है। अतएव प्रगतिवादी स्वस्थ मानव-प्रवृत्तियों को—जिन में मुख्य क्षुधा और काम हैं—प्राकृत रूप में व्यक्त करने से नहीं घबड़ाता :

> धिक् रे मनुष्य तुम स्वस्थ शुद्ध निश्चल चुम्बन
> अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर !
> क्या गुह्य क्षुद्र ही बना रहेगा बुद्धिमान,
> नर-नारी का यह सुन्दर स्वर्गिक आकर्षण !!

विचार के साथ अभिव्यंजना भी बदली। सबसे पहिले तो कला का दृष्टिकोण ही बदल गया—

"ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।"

अब तक काव्य के आलम्बनों में जिस प्रकार प्राकृत, कुत्सित एवं लघु का तिरस्कार और सुन्दर, मनोरम एवं महत् का ही ग्रहण होता था, इसी प्रकार अभिव्यक्ति के उपकरणों में भी। प्रगतिवाद ने कहा कि यह अन्तर काल्पनिक है। जीवन में सब-कुछ केवल सूक्ष्म, सुगढ़ और कोमल ही नहीं है; उसमें स्थूल, दृढ़ और अनगढ़ भी है और जो शायद अधिक उपयोगी है। स्वस्थ जीवन-दर्शन वही है जो उसकी वास्तविकता को स्वीकार करे—जीवन को उसके सम्पूर्ण रूप में ग्रहण करे। रूप-मोह या मानसिक विलास में पड़कर जीवन के उन स्वस्थ उपादानों का, जिनका वाह्य प्राकृत और अनगढ़ है, तिरस्कार करना क्षयी मस्तिष्क का काम है।

इसलिए प्रगतिवादी ने अपनी अभिव्यक्ति के उपकरण आग्रहपूर्वक साधारण-स्वस्थ जन-जीवन से ग्रहण करना आरम्भ किया। वह अपने काव्य-चित्रों का आधार नित्य-प्रति के व्यवहार को बनाता है। उसकी अलंकरण-सामग्री सूक्ष्म, कोमल या चुनी हुई नहीं है, वह स्थूल और प्राकृत है। एक शब्द में, उनकी कला विलास, रूप-रङ्ग, और रोमांस से प्रेम नहीं करती। इसी तरह प्रगतिवाद की शब्द-योजना में भी प्राकृत जन-जीवन का अनगढ़पन मिलता है, रीति-काल की पालिश और छायावाद की अमूर्त मधुचर्य्या नहीं। अतएव प्रगतिवादी अभिव्यक्ति खरी, खड़ी और तीखी होती है—क्योंकि वह मुख्यतः भावात्मक न हो कर आलोचनात्मक है।

सारांश यह है कि प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का नाम है, जिसके मूलतत्व ये हैं :—

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—केवल आर्थिक विधान की मान्यता, ईश्वर और आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति।

समाजवाद—(जिसके मूल में मानववाद भी अन्तर्निहित है) समाजवाद का समर्थन; पूँजीवाद और उससे सम्बद्ध राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति।

राष्ट्रीय भावना—यह केवल भारत-जैसे पराधीन देश में—अथवा बाह्य आक्रमण होने पर अन्य देशों में भी—अधिक सुव्यक्त होती है। वैसे समाजवाद की तरह प्रगतिवाद का भी यह अनिवार्य तत्व नहीं है।

प्रगतिवाद को प्रभावित करने वाली शक्ति मुख्यतः कार्ल मार्क्स हैं, और किन्हीं अंशों में डारविन और फ्रॉयड भी। और, इसकी अभिव्यक्ति भावात्मक की अपेक्षा बौद्धिक अर्थात् आलोचनात्मक अधिक है।

यह हुआ प्रगतिवाद का तात्विक विश्लेषण। परन्तु इसके ये सभी सिद्धान्त निर्विवाद स्वीकार नहीं किये जा सकते—उन पर कुछ मूलगत आक्षेप सरलता से हो सकते हैं।

पहला आक्षेप तो यही है कि प्रगतिवादी जीवन-दर्शन संकुचित है : जीवन की केवल आर्थिक व्याख्या संगत नहीं। इस विषय में सीधी युक्तियों की अपेक्षा एक निषेधात्मक युक्ति अधिक सफल होगी। मार्क्स-वादियों ने मानव इतिहास की जो आर्थिक व्याख्या की है वह अधूरी और अनेक स्थानों पर असंगत एवं अविश्वासनीय है। उदाहरण में कॉडवेल की 'इल्यूज़न ऐण्ड रियैलिटी' पुस्तक के उस सुन्दर एवं महत्वपूर्ण परिच्छेद की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें वे अङ्गरेज़ी-साहित्य के इतिहास का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं मोटी-मोटी बातों को ले सके हैं जो उनका प्रयोजन सिद्ध करती हैं। अङ्गरेज़ी-साहित्य की अनेक सूक्ष्म और उलझी हुई प्रवृत्तियों को उन्होंने बिल्कुल छोड़ दिया है। मेरी अपनी बौद्धिक सीमाएँ हो सकती हैं, परन्तु मुझे यह सचमुच हास्यास्पद लगता है कि जहाँ फ्रॉयड-जैसे अतलदर्शी मनोवैज्ञानिक मानव-मन की परीक्षा करते हुए अन्त में नेति-नेति कह देते हैं वहाँ मार्क्स का साधारण अनुयायी भी सिर्फ़ पैदावार की बातचीत करता हुआ उसके अन्तिम सत्यों तक

झट से पहुँच जाता है। यह विश्वास और उत्साह स्तुत्य होने पर भी बुद्धि-संगत नहीं है।

दूसरा आक्षेप यह है कि साहित्य अपने मूलरूप में सामाजिक या सामूहिक चेतना नहीं, वह तो वैयक्तिक चेतना ही हो सकती है मनुष्य पहले व्यक्ति है पीछे समाज की इकाई; और उसका पहला रूप ही मौलिक रूप है। अतएव साहित्य अपने वास्तविक रूप में जीवन के प्रति व्यक्ति की अथवा अनात्म के प्रति आत्म की प्रतिक्रिया ही है, अर्थात् साहित्य वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति है। हमारे आत्म या व्यक्तित्व की दो प्रवृत्तियाँ हैं : अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तर्मुखी प्रवृत्ति बहिरंग को अपने अन्दर खींचती हुई गहरी अथवा घनीभूत होती रहती है; बहिर्मुखी वृत्ति अन्तरङ्ग का बाहर प्रसार करती हुई व्यापक होती रहती है। मनुष्य में संस्कार और परिस्थिति-वश इनमें से एक का प्राधान्य हो जाता है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा जिसका पूर्णतः सामाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। संसार में ऐसा महान् साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असंदिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उनके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं। महान् साहित्य असाधारण प्रतिभा के असाधारण क्षणों की सृष्टि है। और यह असाधारण प्रतिभा समाज या समूह से, जिसका कि अधिकांश साधारण प्रतिभा और शक्ति वाले लोगों से बना हुआ है, सहानुभूति रखती हुई भी—और यह भी सर्वथा अनिवार्य नहीं—अपनी चेतना को उसमें लय नहीं कर सकती। उसकी अपनी चेतना समाज से बहुत कुछ ग्रहण करती हुई भी सृजन के अर्ध-चेतन क्षणों में बनस्पति से ढकी हुई चिनगारी की तरह प्रज्वलित हो उठेगी।

वास्तव में अपने मूल रूप में जीवन का एक दृष्टिकोण होते हुए भी व्यावहारिक रूप में प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक विचार-धारा का ही उभार है

जो बलपूर्वक साहित्य द्वारा अपनी प्रत्यक्षाभिव्यक्ति चाहता है। इसलिए उसमें प्रायः वही सामयिक उत्साह और प्रचार-भावना मिलती है जो साम्प्रदायिक लोगों में सर्वत्र पायी जाती है। अतः जहाँ तक ये लोग अपनी बात कहते हैं हम उसे आवश्यक काट-छाँट के बाद आसानी से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जब अपनी उस अन्तिम मार्क्सवादी कसौटी पर ये लोग अपर साहित्य को कसते हैं तो इनके परिणाम सर्वथा भ्रामक और अन्यायपूर्ण होते हैं। मार्क्सवाद एक नवीन और काफ़ी स्वस्थ जीवन-दर्शन है : साहित्य पर उसके द्वारा नवीन प्रकाश पड़ रहा है। परन्तु उसकी उपादेयता व्याख्या तक ही सीमित है : उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन एकांगी होता है। मुझे सबसे बड़ी आपत्ति प्रगतिवाद के मूल्यों से ही है : वह साहित्य और पैदावार का सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे रोटी-पानी या जीवन के सामयिक प्रश्नों को हल करने का सीधा साधन मानकर बहुत ही सस्ता बना देता है

आदिकाल से ही मानव-मन अनेक जीवन-दर्शनों का आविष्कार करता रहा है। परन्तु उसके सभी प्रयत्नों का ध्येय रहा है केवल आनन्द की प्राप्ति। साहित्य भी आनन्द-प्राप्ति का एक प्रयत्न है, किन्तु यह प्रयत्न स्थूल और प्रत्यक्ष नहीं है। सुख के लिए किए हुए मानव प्रयत्नों में साहित्य अत्यन्त सूक्ष्म परिष्कृत और मधुर प्रयत्न है—आध्यात्मिक चिन्तन इससे भी सूक्ष्म है, पर वह इतना मधुर नहीं। साहित्य की साधना और सिद्धि दोनों में ही आनन्द है। अतएव आनन्द को छोड़ और कोई कसौटी मानना हमारी समझ में नहीं आता। जीवन के मूल्य चिरन्तन ही मानने पड़ेंगे। क्योंकि जीवन चिरन्तन है, जीवन की मौलिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं—कम-से-कम मानव-सृष्टि के प्रारम्भ से अब तक तो चिरन्तन ही चली आयी हैं।

चिरन्तन शब्द का कोई काव्यमय अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। चिरन्तनता अन्त में जाकर एक सापेक्षिक गुण सिद्ध होता है जिससे स्थायित्व का चरम आधिक्य और परिवर्तनशीलता की चरम न्यूनता का ही अभिप्राय है। आज भी हमें वाल्मीकि और होमर की कविताएँ अनेक सामयिक कविताओं से कहीं अधिक आनन्द देती हैं, उनकी प्राणवत्ता अब भी ज्यों-की-त्यों है। इसका कारण यही है कि मानव-मन में कुछ ऐसे गुण हैं जो देश-काल के परिवर्तनों के बीच भी बने रहते हैं। मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि ये गुण और कुछ नहीं मानव-जीवन की मूल वृत्तियाँ ही हैं। देश-काल का प्रभाव

इन पर इतना ही पड़ता है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष मनोवृत्ति बलपूर्वक एक विशेष रूप में अपने-आपको अभिव्यक्ति करे। स्वयं समाजवाद का मूल उस आदिम मानववृत्ति प्रेम में मिल जाता है। आज जो हम सबको अथवा उन व्यक्तियों को भी जो स्पष्ट रूप से पूँजीवादी हैं सुन्दर प्रगतिशील कविता प्रिय लगती है, इसका एकमात्र कारण यही है कि घोर-से-घोर पूँजीवादी और उतने ही कट्टर समाजवादी दोनों के अन्तरतम में कुछ तार ऐसे हैं जो एक सामान्य अनुभूति से झंकृत होकर वाह्य भेदों की अवहेलना करते हुए बरबस मिल जाते हैं। यह सामान्य अनुभूति है मानववाद जिसका दार्शनिक नामकरण चाहे कभी हुआ हो पर जो अपने मूल रूप में प्रेम का एक प्रस्फुटन होने के कारण अनादि काल से चला आ रहा है। हममें से अधिकांश के हृदय को समाजवाद का विज्ञान स्पर्श नहीं करता—उसकी मूलवर्तिनी मानव-कल्याण या पारस्परिक सहानुभूति की भावना ही स्पर्श करती है।

सारांश यह है कि साहित्य के मूल्यांकन की कसौटी जो अब तक चली आयी है वही ठीक है—अर्थात् आनन्द! साहित्य की सृजन-क्रिया स्वयं साहित्यकार को आनन्द देती है और उसके व्यक्त रूप का ग्रहण पाठक या श्रोता को आनन्द देता है। हमें जो साहित्य जितना ही गहरा और स्थायी आनन्द दे सकेगा उतना ही वह महान् होगा, चाहे उसमें किसी सिद्धांत का—समाजवाद, गांधी-वाद; मानववाद, पूँजीवाद, किसी भी वाद का—समर्थन हो या विरोध।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि पूँजीवाद की जो प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः मानव-हित में घातक हैं उनका समर्थन कैसे श्रेयस्कर हो सकता है। पर इसका उत्तर सरल है। पहले तो यह अनुचित समर्थन मानव-मन को आनन्द देने में ही असमर्थ होगा; और यदि समर्थ होगा भी तो लेखक की अनुभूति की तीव्रता और आत्माभिव्यक्ति की निष्कपटता के कारण ही। आप कह सकते हैं कि वह ग़लत रास्ते पर है, लेकिन उसकी ईमानदारी और ताक़त की दाद आपको देनी ही होगी। इसी उलझन को सुलझाने के लिए तो पुराने आचार्य ने रसानुभूति को अलौकिक कहा है। वह बेचारा यही कहना चाहता था कि इस प्रकार के लोक-प्रचलित अस्थायी वादों के द्वारा साहित्य का रस अशुद्ध हो जाता है। काव्य रसात्मक है—सदैव रहा है और आशा यही है कि रहेगा भी। जिसमें

रस नहीं है वह अपने उच्च सिद्धांतों या किसी भी अन्य कारण से काव्य से भी ऊँची कोई वस्तु हो जाय पर काव्य नहीं हो सकता।

अतएव, जहाँ तक व्याख्या का सम्बन्ध है, मार्क्सवाद ने हमें एक नया मार्ग दिखाया है और उसके लिए हम कृतज्ञ हैं। परन्तु एक तो यह मार्ग अन्तिम : एकमात्र मार्ग नहीं है फ्रॉयड आदि द्वारा प्रदर्शित अन्य मार्ग कम उपयोगी नहीं। दूसरे, यह एक परीक्षण-विधि मात्र है, मूल्यांकन की कसौटी नहीं। इस नयी विधि का प्रयोग हमें रस-परीक्षण के ही लिए, इसकी सीमाओं को स्वीकार करते हुए करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में तो शुद्ध मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र का ही, जो मनोविज्ञान का ही एक अङ्ग है, अधिक विश्वास करना उचित होगा।

एक और आक्षेप जो प्रगतिवाद के मूल सिद्धान्तों पर किया जा सकता है यह है कि इसका दृष्टिकोण मूलतः वैज्ञानिक होने के कारण बौद्धिक एवं आलोचनात्मक है। अतएव स्वभाव से ही उसमें वह तन्मयता या आत्म-विसर्जन नहीं है जो काव्य के लिए अनिवार्य है। अस्तु।

हिन्दी में प्रगतिवाद का आदि-ग्रन्थ गोदान है। परन्तु गांधी जी में आस्था रखने वाले प्रेमचन्द को शुद्ध प्रगतिवादी शायद न माना जा सके। वे मानववाद के आगे नहीं जा सके। प्रगतिवाद की रूप-रेखा पिछले दो-तीन वर्षों से ही बनना आरम्भ हुई है। यह एक विचित्र संयोग है कि हिन्दी में प्रगतिवाद का भी सबसे पहला लेखक—जिसने उसे गौरव दिया—वही व्यक्ति है जो छायावाद का भी एक प्रमुख प्रवर्तक था। मेरा आशय कवि पंत से है।

इस वर्ग के कवि-लेखकों में केवल एक ही प्रवृत्ति सर्व-सामान्य है—क्रान्ति। शुद्ध प्रगतिवादी दृष्टिकोण तो शायद पन्त❀ और नये कवियों में नरेन्द्र ही ने ग्रहण किया है। और सच तो पन्त और नरेन्द्र में भी यह बुद्धि की प्रेरणा है, संस्कार अभी उनके भी पीछे को ही दौड़ रहे हैं। शेष कवि-लेखक तो अंशतः ही प्रगतिशील हैं।

❀ परन्तु अब इन दोनों को भी प्रगतिवादी पार्टी की चीफ़ ह्विप डाक्टर रामविलास शर्मा ने पार्टी से निकाल दिया है। —लेखक

चौंकने की बात नहीं; पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हिन्दी में शुद्ध प्रगतिशील रचनाएँ तो मिल जायँगी, परन्तु इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सर्वथा ग्रहण कर लेने वाला पूर्णतः प्रगतिशील कवि या लेखक अभी सामने नहीं आया। लेकिन ऐसा कहना, हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य का तिरस्कार करना नहीं है। एक तो उसका इतिहास ही दो-तीन वर्षों में सिमटा हुआ है। दूसरे अन्य देशों में भी, शायद रूस को छोड़कर, आलोचना ही अधिक है सृजन कम। हिन्दी में भी स्वभावतः आलोचना ही अधिक है। और इसके कई कारण हैं।

१. हिन्दी-कवियों का दृष्टिकोण अभी वैज्ञानिक अर्थात् भौतिक एवं बौद्धिक नहीं बन पाया। अभी वह अधिकांश में भाव-प्रधान है। आत्मा का मोह भी ये कवि नहीं छोड़ पाये हैं। इसलिए हिन्दी-साहित्य में मानववाद या क्रान्ति ही मुख्य हैं, वैज्ञानिक समाजवाद या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बहुत कम।

२. हिन्दी में अभी सामाजिक चेतना इतनी प्रबल नहीं हुई है कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ उसमें लय हो जायँ। अभी अधिकांशक वियों में वैयक्तिक गीत-तत्त्व की प्रचुरता है।

३. हिन्दी में जिन प्रवृत्तियों ने छायावाद को जन्म दिया उनको पूरी तरह अभिव्यक्त होने का अवसर नहीं मिल पाया। कुछ तो एक साथ बदली हुई राजनीतिक परिस्थिति और कुछ प्रॉपैगैण्डा के परिणाम-स्वरूप वे प्रवृत्तियाँ एक साथ समय से पहले ही दब गयीं। प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ है। कामायनी, तुलसीदास और अनामिका—उधर युग-वाणी के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं है! आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं—अतएव स्वाभाविक है कि इनकी ओर से पूरी-पूरी कोशिश होने पर भी वह सभी रोमांस (?) बार-बार उभर आता है। अब भी ये प्रायः वहीं उस मधु-माधव के उपवन में पलायन कर जाते हैं। दिनकर की रसवंती, अञ्चल की मधूलिका और अपराजिता, नरेन्द्र और स्वयं पन्त की अनेक कविताएँ मेरे कथन की पुष्टि करेंगी।

४. हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील लेखक उस जीवन से दूर हैं जो उनकी प्रेरणा का मूल-स्रोत है। उनके सिद्धान्त पढ़ कर और मनन कर प्राप्त किये हुए हैं, सह कर और भोग कर नहीं। केवल बौद्धिक सहानुभूति के बल पर शोषितों की पीड़ा को मुखर करने वाले या हज़ारों मील दूर पर लड़ने वाली

लाल सेना के अभियान गीत लिखने वाले इन लेखकों की रचनाएँ स्वभावतः ही प्राणवान् कैसे हो सकती हैं ?

अभी भारतीय जीवन में गाँधीवाद और समाजवाद का संघर्ष चल रहा है। गाँधीवाद का भारत के संस्कारी हृदय पर गहरा प्रभाव है। पर यह भी निश्चित है कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी है। निदान संक्रान्ति के इस युग में अनमिल तत्वों का सम्मिश्रण जीवन की भांति कविता में भी सहज सम्भव है। पर यह न मानना कृतघ्नता होगी कि भारतीय जीवन में समाजवाद की तरह हिन्दी में प्रगतिवाद भी एक जीवित शक्ति है। उसमें उत्साह और चैतन्यता है। आज भारत में प्रगतिवाद का भविष्य समाजवाद के भविष्य के साथ बँधा हुआ है—लेकिन फिर भी आधुनिक साहित्य के अध्येता को आदर और धैर्यपूर्वक उसकी गतिविधि का निरीक्षण करना होगा।

: १० :

महादेवी की आलोचक दृष्टि

जैसा मैंने एक और स्थान पर भी कहा है, महादेवी के काव्य में हमें छायावाद का शुद्ध अमिश्रित रूप मिलता है। छायावाद की अंतर्मुखी अनुभूति अशरीरी प्रेम जो बाह्य-तृप्ति न पाकर अमांसल सौंदर्य की सृष्टि करता है, मानव और प्रकृति के चेतन संस्पर्श, रहस्य-चिन्तन (अनुभूति नहीं,) तितली के पंखों और फूलों की पंखड़ियों से चुराई हुई कला, और इन सबके ऊपर स्वप्न-सा पुरा हुआ एक वायवी वातावरण—ये सभी तत्व जिसमें घुले मिलते हैं, वह है महादेवी की कविता। महादेवी ने छायावाद को पढ़ा नहीं है, अनुभव किया है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्तवचन के समान ही आदर करेगा।

आज एक साथ ही महादेवीजी की लेखनी से उद्भूत विवेचनात्मक गद्य यथेष्ट रूप में हमारे सामने उपस्थित है। यामा दीपशिखा और आधुनिक कवि की विस्तृत भूमिकायें, पत्रिकाओं में प्रकाशित 'चिन्तन के क्षणों में' और अब पुस्तकाकार प्राप्त उनके कतिपय लेख काव्य के सनातन सत्यों का जितना स्वच्छ उद्घाटन करते हैं, उतना ही आधुनिक साहित्य की गतिविधि का निरूपण भी।

साहित्य-दर्शन

महादेवी के साहित्य-दर्शन का आधार है भारतीय आदर्शवाद, जो जीवन और जगत् में एक सत्य की अखण्ड सत्ता मानता है। जगत् के खण्ड-खण्ड में अखण्डता प्राप्त कर लेना ही सत्य है और उसकी विषमताओं में सामञ्जस्य देखना ही सौन्दर्य है। महादेवी इन्हीं दो तथ्योंको साहित्यके साध्य और साधन मानती हैं।

"......सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकतामें असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनन्त, इसीसे साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्यकी विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।"

स्पष्ट शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ कि सौन्दर्य का सम्बन्ध रूप से होने के कारण वह हमारे निकट है, हमारा उससे स्नेह-परिचय है। रूपों की परिचित अनेकता की 'भावना' करता हुआ साहित्यकार जब क्रमशः उनकी मौलिक एकता की ओर बढ़ता है तो उसे एक विशिष्ट सामञ्जस्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यही सामञ्जस्य-दृष्टि साहित्य की मूल प्रेरणा है और स्वभावतः आनन्दरूपा है, क्योंकि आनन्द का अर्थ भी तो हमारी अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य ही है। 'रसो वै सः' को मानने वाला भारतीय साहित्यशास्त्र मूलतः इसी आनन्दरूप सामञ्जस्य या अखण्डता पर आधृत है। इसी से वह एक ओर साधारणीकरण के मौलिक तत्व तक पहुँच सका और दूसरी ओर क्रोध, शोक, जुगुप्सा और भय आदि में भी सात्विक आनन्द की उपलब्धि कर सका।

यहीं आकर साहित्य की उपयोगिता का भी प्रश्न हल हो जाता है। जिसका साध्य सत्य है, साधन सौन्दर्य है और प्रक्रिया आनन्दरूप, उस साहित्य की उपयोगिता जीवन की चरम उपयोगिता है। परन्तु उसका माध्यम स्थूल-विधि-निषेध न हो कर आन्तरिक सामञ्जस्य ही है। इस प्रकार साहित्य एक ओर सिद्धान्तों का व्यवसाय होने से बच जाता है, दूसरी ओर सस्ता मनोरञ्जन होने से। इस रूप में स्वभावतः ही महादेवी साहित्य को एक शाश्वत सत्य मानती हैं। अनेकता में एकता ढूँढ़ने वाली उनकी दृष्टि जीवन और साहित्य के सनातन सिद्धान्तों और मूल्यों को लेकर चलती है, जो परिवर्तनों के बीच भी अक्षुण्ण रहते हैं।

"यह सत्य है कि संस्कृति की बाह्य रूप-रेखा बदलती रहती है, परन्तु मूल तत्त्वों का बदल जाना तब तक सम्भव नहीं होगा जब तक उस जाति के पैरों के नीचे से वह विशेष भूखण्ड और उसे चारों ओर से घेर लेने वाला विशेष वायुमण्डल ही न हटा लिया जाय।"

अतएव यह स्पष्ट है कि महादेवी कविता को गणित के अङ्कों में घटित होने वाला एक तथ्य-मात्र न मान कर, मूल रूप में रहस्यानुभूति ही मानती हैं। उपर्युक्त उद्धरण में एकता की स्थिति को विस्मय-भरी कहने का यही तात्पर्य है। एक स्थान पर उन्होंने अपना मन्तव्य असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त ही किया है—

"व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश

या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य का द्वार नहीं खोल देता तो हमारे अन्तर्गत का उल्लास से आलोकित हो उठना सम्भव नहीं।"

वास्तव में कविता के ही नहीं जीवन के विषय में भी उनकी यही रहस्यात्मक भावना है। "मनुष्य चाहे प्रकृति के जड़ उपादानों का संघात विशेष माना जावे और चाहे किसी व्यापक चेतना का अंशभूत, परन्तु किसी भी अवस्था में उसका जीवन इतना सरल नहीं है कि हम उसकी पूर्ण तृप्ति के लिए गणित के अंकों के समान एक निश्चित सिद्धान्त दे सकें।" इसलिए उनका दृष्टिकोण विदेश के भूतवादी दार्शनिकों के दृष्टिकोण से जो जीवन को काम या केवल अर्थ पर केन्द्रित मान कर चलते हैं, मूलतः भिन्न है। उनकी दृष्टि समन्वयवादी है जो काम और अर्थ के आंशिक महत्व को तो मुक्त कण्ठ से स्वीकार करती है परन्तु जीवन को समग्रतः इनकी ही इकाइयों में घटाना स्वीकार नहीं करती। भौतिक यथार्थवाद को वे पूर्णतः स्वीकार तो करती हैं, परन्तु निरपेक्ष रूप में नहीं, आध्यात्मिक आदर्श के साथ। जीवन की खण्ड-खण्ड विविधता ही भौतिक यथार्थ है, अखण्ड एकता ही आध्यात्मिक आदर्श। पहिला पदार्थ या अर्थ-काम के बटकों में आँका जा सकता है, दूसरा अनुभूति का ही विषय होने के कारण निश्चय ही थोड़ा-बहुत रहस्यमय है।" इसीलिये एक ओर महादेवीजी साहित्य के व्याख्यान में भौतिक वातावरण को उचित महत्व देती हैं, दूसरी ओर वह सामञ्जस्य या एकता की आध्यात्मिक कसौटी का उपयोग करती हैं।

इसी प्रकार वे काव्यानन्द को भी ऐन्द्रिय संवेदनों में न ढूँढ़ कर प्राण-चेतना के उस सूक्ष्म धरातल पर ढूँढती हैं जहाँ बुद्धि और चित्त, ज्ञान और अनुभूति का पूर्ण सामञ्जस्य हो जाता है, जो चिन्तन का धरातल है, जहाँ भट्टनायक या अभिनव के शब्दों में सतोगुण, तमस् और रजस् पर विजयी होता है। यहाँ आकर उनकी स्थिति एक ओर अति-बुद्धिवादी और दूसरी ओर अति रस-वादी साहित्याकारों से भिन्न हो जाती है।

सामञ्जस्य की यह दृष्टि, दूसरे शब्दों में संतुलन और संयम की दृष्टि है जिसमें किसी भी प्रकार के अतिचार को, जीवन-प्रवाह के उन असाधारण क्षणों को जहाँ संतुलन और संयम तट के मृत्तिका खण्डों की तरह बह जाते हैं, स्थान नहीं। यह दृष्टि या तो जीवन के साधारण धरातल पर ही रुक जाती है और या फिर एकदम पूर्ण स्थिति—बाल्मीकि, व्यास, शेक्सपियर पर

हो सकती है। इसलिए यह असृन-दृष्टि बायरन जैसे विषपायियों के प्रति, जो सामञ्जस्य और संतुलन की अवस्था तक नहीं पहुँच पाये हैं, सदैव कितनी क्रूर रही है। एक ओर सामञ्जस्य-द्रष्टा रवीन्द्र माईकेल को क्षमा नहीं कर पाये थे, और दूसरी ओर सामञ्जस्य-द्रष्टा महादेवी उग्र या अञ्चल को क्षमा नहीं कर सकतीं। इनकी शक्ति को ये लोग आत्मघातिनी शक्ति कह कर छोड़ देंगे। परन्तु क्या यह उचित है ? सत्य यह है कि यह सामञ्जस्य नैतिक बन्धनों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सका, इसलिये एक स्थान पर जाकर उसमें भेद-बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। महादेवी के साहित्यिक मान नैतिकता के बोझ से काफी दबे हुए हैं इसमें सन्देह नहीं। और इसमें उनका स्त्रीत्व बाधक हुआ है, जो मर्यादा से बाहर जीवन की मुक्ति खोजने का अभ्यासी नहीं है। और, वास्तव में अभी महादेवीजी की दृष्टि पूर्ण सामञ्जस्य की अधिकारिणी ही नहीं हो पायी क्योंकि उसमें पुरुषत्व से भिन्न नारीत्व की इतनी प्रखर चेतना वर्तमान है कि वह पुरुष को आततायी प्रतिद्वन्द्वी के अतिरिक्त और कुछ कठिनाई से ही समझ पाती है। महादेवी जैसे उन्नत व्यक्तित्व में यह भाव अवश्य किसी ग्रन्थि की ही अभिव्यक्ति है जो अभी उलझी रह गई है।

—सामयिक समस्या—

इन सिद्धान्तों का उपयोग उन्होंने आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विवेचन में किया है और यहाँ हमें महादेवीजी का सक्रिय आलोचक रूप मिलता है। छायावाद और प्रगतिवाद से सम्बद्ध लगभग सभी महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर उन्होंने सम्यक् प्रकाश डाला है जो संक्रान्ति की इस कुहरवेला में फैली हुई अनेक भ्रांतियों को दूर कर देता है। इन प्रसङ्गों में से मुख्यतम प्रसङ्ग छायावाद को लेकर आइये बहस की जाय—

—छायावाद—

"मनुष्य का जीवन चक्र की तरह घूमता रहता है। स्वच्छन्द घूमते-घूमते थक कर वह अपने लिये सहस्र बन्धनों का आविष्कार कर डालता है और फिर बन्धनों से ऊब कर उनको तोड़ने में सारी शक्तियां लगा देता है।"

"छायावाद के जन्म का मूल कारण भी मनुष्य के इसी स्वभाव में छिपा हुआ है। उसके जन्म से प्रथम कविता के बन्धन सीमा तक पहुँच चुके

थे और सृष्टि के बाह्याकार पर इतना अधिक लिखा जा चुका था कि मनुष्य का हृदय अपनी अभिव्यक्ति के लिए रो उठा।"

"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित उन मानव अनुभूतियों का नाम छायावाद उपयुक्त ही था, और मुझे तो आज भी उपयुक्त ही लगता है।"

"छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है।"

"बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भाव्य-भूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी हुई सौन्दर्य-सत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की, और दोनों के साथ स्वानुभूत सुख-दुःखों को मिला कर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, छायावाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।"

"छायावाद करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला भावात्मक सर्ववाद ही है।"

इस प्रकार महादेवीजी के अनुसार—

१. छायावाद की मूलचेतना है सर्ववाद और इसकी भाव-भूमि है मुख्यतः प्रकृति, क्योंकि सर्ववाद की व्यञ्जना का मुख्य माध्यम वही है।

२. इस सामान्य चेतना पर कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख की चेतना का गहरा प्रभाव है। वास्तव में सिद्धान्त में समष्टिवादी होती हुई भी यह चेतना व्यवहार में व्यष्टिवादी ही है।

३. सर्ववाद निसर्गतः ही करुणा को जन्म देता है, अतएव जन्म से ही छायावाद पर करुणा की छाया है।

४. उसका उद्गम-स्थान हमारी प्राण चेतना का वह सूक्ष्म धरातल है जहाँ बुद्धि और चित्त का संयोग होता है। अर्थात् छायावाद चिन्तन के क्षणों की उद्भूति है। अतएव वह स्वभावतः ही अन्तर्मुखी कविता है।

५. छायावाद में मूर्त्त और अमूर्त्त के सामञ्जस्य की पूर्णता है।

उपर्युक्त विवेचन मेरी अपनी धारणाओं के इतना निकट है कि इससे विशेष आपत्ति के लिए स्थान नहीं हैं। फिर भी ऐसा अवश्य लगता है कि महादेवी जी ने छायावाद की तन्वी कविता पर दर्शन का बोझ कुछ अधिक लाद दिया है। अपने मूल-रूप में छायावाद द्विवेदी युग की स्थूल प्रवृत्तियों के विरोध में जगी हुई जीवन के प्रति एक रोमानी प्रतिक्रिया थी—स्थूल उप-

योगिना के स्थान पर जिसमें एक रहस्योन्मुखी भावुकता थी सामयिक परि-स्थितियों के अनुरोध से जीवन से रस और मांस ग्रहण न कर सकने के कारण वह एक तो वाञ्छित शक्ति का सञ्चय नहीं कर पायी, दूसरे एकान्त अन्तर्मुखी हो गई। इस प्रकार उसके आविर्भाव में मानसिक दमन और अतृप्तियों का बहुत बड़ा योग है, इसको कैसे भुलाया जा सकता है।

महादेवीजी ने कविता की तात्त्विक परिभाषा में छायावाद को कुछ ऐसा फ़िट कर दिया है कि वह कविता के परिपूर्ण तत्त्वों की वाणी ही लगता है—यह स्वभावतः असत्य है। छायावाद की अपनी सीमाएँ हैं। उसकी कविताओं में जितनी सूक्ष्मता है उतनी शक्ति नहीं, जितनी सुकुमारता है उतनी तीव्रता नहीं, जितना अरूप चिन्तन है उतना मांसल रस नहीं आ सका—इसका निषेध कैसे किया जा सकता है! हमारे दो प्रतिनिधि कवि पन्त और महादेवी जीवन में पूरी तरह उतर ही नहीं पाये। जब जीवन की भूख तड़पती थी तब तो वे परिस्थितिवश उसे झुठलाते रहे, और जब भूख मन्द पड़ गई तब ये जीवन में उतरे— पर इस समय उसका संस्कार करने के अतिरिक्त इनके पास दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। संस्कार में रस तभी आता है जब उसके द्वारा खौलती हुई वासनाओं से संघर्ष कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है। प्रसाद और निराला में स्थान स्थान पर वह भूख हुँकार उठी है, और वहीं वे महान् काव्य की सृष्टि कर सके हैं।

—आलोचना शक्ति—

महादेवीजी की आलोचना-शैली चिन्तन की शैली है, जिसमें विचार और अनुभूति का संयोग है। वह जैसे बौद्धिक तथ्यों को पचा-पचा कर हमारे समक्ष रखती हैं। निदान बौद्धिक तीक्ष्णता तो उनके विवेचन में इतनी नहीं मिलती, परन्तु संश्लेषण सर्वत्र मिलता है। कहीं भी किसी प्रकार की उलझन नहीं है। यह दूसरी बात है कि पाठक को उसे तत्काल ग्रहण कर लेने में कठिनाई हो। क्योंकि उसका तो कारण है—यह कि विचार की अपेक्षा चिन्तन को ग्रहण करने में देर लगती है। शुक्लजी की शास्त्रीय गवेषणा से सर्वथा भिन्न यह शैली प्रसाद और पन्त की ठोस बौद्धिक विवेचना की अपेक्षा टैगोर की लचीली काव्य-चिन्तना के अधिक समीप है।

एक दूसरी विशेषता जो महादेवी की आलोचना में मिलती है वह है ऐतिहासिक एक-सूत्रता जो सामञ्जस्य को जीवन का और साहित्य का मूला-

धार मानकर चलने वाले आलोचक के लिये स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए एक ओर उन्होंने छायावाद की प्रकृति-भावना का वेदों से आरम्भ होने वाली प्रकृति-भावना की भारतीय परम्परा के साथ बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बन्ध निरूपण किया है; दूसरी ओर आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों का समाज की आर्थिक परम्पराओं के साथ। इसलिए उनकी आलोचना प्रायः एकाङ्गी नहीं हुई। उसमें अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी वृत्तियों का संतुलन है, और जीवन की विस्तृत भूमिका पर रखकर भी साहित्य को उसके अतिप्रत्यक्ष प्रश्नों से बचाए रखने का विवेक और सुरुचि है।

सारतः महादेवी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के बवण्डर में भटका हुआ जिज्ञासु इन्हें आलोक स्तम्भ मानकर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है।

———

: ११ :

डा० श्यामसुन्दरदास की आलोचना-पद्धति

बाबू श्यामसुन्दरदास ने यों तो अनेक आलोचना ग्रन्थ लिखे हैं—परन्तु उनकी आलोचना-पद्धति का विश्लेषण करने के लिए हम 'साहित्यालोचन' के परिवर्द्धित संस्करण और 'हिन्दी भाषा और साहित्य' को आधार मानकर चल सकते हैं। साहित्यालोचन में उसके सैद्धान्तिक रूप की चरम परिणति है और हिन्दी साहित्य में व्यावहारिक रूप की। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में बाबू जी का आलोचक रूप सम्पूर्ण हो जाता है।

काव्य सिद्धान्त—बाबू जी के सिद्धान्तों में पूर्व और पश्चिम दोनों की ही स्वीकृति है—कला, साहित्य, कविता, उपन्यास, कहानी निबन्ध आदि का विवेचन सर्वथा पश्चिमीय पद्धति पर है—नाटक की आलोचना और शैली के विवेचन में पश्चिमीय और पूर्वीय दोनों साहित्य-शास्त्रों का आधार ग्रहण किया गया है, रस का विवेचन मुख्यतः भारतीय परम्परा के अनुसार ही है। इससे स्पष्ट है कि पौरस्त्य सिद्धान्तों की अपेक्षा बाबू जी पर पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रभाव कहीं अधिक है, इसीलिए उन्होंने निर्विवाद ही कविता को कला मान लिया है। कला में कविता का अन्तर्भाव सर्वथा पश्चिमीय सिद्धान्त है—जिसका सूत्रपात जर्मन दार्शनिक 'हीगेल' ने किया था। भारतीय साहित्य-शास्त्र काव्य को कला से सर्वथा पृथक् रखकर देखता आया है। काव्य का सम्बन्ध हमारे यहाँ काव्य की अपेक्षा अत्यन्त निम्न रहा है—काव्य का सम्बन्ध जहाँ अभौतिक रस चेतना से है, वहाँ कला का सन्बन्ध भौतिक जीवन—विलास से है। इसीलिए एक को जहाँ ब्रह्मानन्द-सहोदर की पदवी दी गई है, दूसरे को नागरिक जीवन का शृङ्गार-मात्र माना गया है। आज भी भारतीय दृष्टिकोण काव्य को कला के अन्तर्गत मानने को प्रस्तुत नहीं है। प्रसाद जी और शुक्ल जी के मन्तव्य प्रमाण हैं—दोनों ने अत्यन्त सबल शब्दों में हीगेल के मत का तिरस्कार किया है।

प्रसाद्—काव्य की गणना विद्या में थी—और कलाओं का वर्गीकरण अविद्या में था। × × × × कला से जो अर्थ पाश्चात्य विचारों में लिया जाता है, वैसा भारतीय दृष्टिकोण में नहीं।

—काव्य और कला।

शुक्ल—+ + + कलाओं के सम्बन्ध में, जिनका लक्ष्य केवल सौन्दर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है, यह मत बहुत ठीक कहा जा सकता है। इसी से ६४ कलाओं का उल्लेख हमारे यहाँ कामशास्त्र के भीतर हुआ है। पर काव्य की गिनती कलाओं में नहीं की गई।

—रसात्मक बोध के विविध रूप।

इसके विपरीत बाबू जी ने कोई शङ्का ही नहीं उठाई। उन्होंने ज्यों-का-त्यों पश्चिमीय सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है। वे वास्तव में हीगेल तक पहुँचे भी नहीं हैं हडसन और वर्सफ़ोल्ड को ही प्रमाण मानकर उपर्युक्त तथ्य को ग्रहण कर बैठे हैं।

सामान्यतः बाबू जी रसवादी ही हैं—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसङ्गों में जीवन और काव्य में भावों की महत्ता स्वीकृत की है :—

"ऊपर के विवेचन का सारतत्त्व इतना ही है कि साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है।······यह भी हम भली भाँति जानते हैं कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है ज्ञान जन्म देता है दर्शन, विज्ञान, आदि शास्त्रों को, और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत् से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है।" साहित्य में रसवाद वास्तव में सबसे अधिक मान्य सिद्धान्त है। योरोप के साहित्य-शास्त्र में प्रायः तीन प्रकार के मूल्यों का प्रचलन रहा है :—एक क्लासिकल जिनमें शान्ति और गम्भीरता का प्राधान्य था, दूसरे रोमाण्टिक जिनमें वैचित्र्य और आवेश की प्रभुता थी—और तीसरे बौद्धिक मूल्य जो इस युग की सृष्टि हैं और आज अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय भी हो रहे हैं। इनमें पहले दो तो निश्चित रूप से रसवाद के अन्तर्गत आ जाते हैं—एक काव्य की आत्मा गम्भीर एवं शान्तिमय आनन्द को मानता है और दूसरा उत्तेजना तथा आवेशपूर्ण आनन्द को। परन्तु दोनों ही निश्चित रूप से बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागतत्त्व पर बल देते हैं—और इस प्रकार ये नवीन बुद्धिवादियों के वर्ग से सर्वथा पृथक् हैं

जिनका लक्ष्य रागात्मक आनन्द न होकर बौद्धिक उत्तेजना ही है। भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास में भी अलङ्कार-सम्प्रदाय और कुछ अंशों में ध्वनि-सम्प्रदाय ने भी राग की अपेक्षा कल्पना-तत्त्व को अधिक महत्त्व दिया था—परन्तु धीरे-धीरे रसवाद ने उनको आच्छादित कर लिया। हिन्दी में आरम्भ से ही रसवाद का प्रभुत्व रहा है—आधुनिक आलोचना में भी प्रगतिवर्ग के कुछ अति-प्रेमी प्रयोगवादियों को छोड़कर एक स्वर से रसवाद की ही प्रतिष्ठा है। यह दूसरी बात रही कि रसके स्वरूपके विषयमें आधुनिक पण्डितों के मत भिन्न भिन्न हों। बाबूजी रस अथवा काव्यानन्द को प्राकृतिक आनन्द से केवल मात्रा में ही नहीं वरन् प्रकार में भी भिन्न मानते हैं: "तथापि यह भी हम जानते हैं कि दोनों में बड़ा भेद है—केवल मात्रा में नहीं, प्रकार में भी। प्राकृतिक आनन्द से काव्यानन्द भिन्न होता है।" उन्होंने उसके लिये अलौकिक और ब्रह्मानन्द-सहोदर दोनों ही विशेषणों का प्रयोग किया है—परन्तु उनका अर्थ विवेक-सम्मत और वैज्ञानिक रूप में किया है। अलौकिक से तात्पर्य इस लोक से परे का नहीं है और न असाधारण अथवा असामान्य का। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि बिना प्राकृतिक आनन्द की भावना के काव्यानन्द नहीं मिलता, प्राकृतिक अनुभूति ही अलौकिक अनुभूति का आधार बनती है। इस प्रसंगमें वे पं० केशवप्रसाद मिश्र की ही तरह अलौकिक का अर्थ अति-प्राकृतिक (Super-natural) अथवा असामान्य (Extra-ordinary) न मानकर पर-प्रत्यक्ष-गम्य Super-Sensuous ही मानते हैं। और स्पष्ट शब्दों में :—

१—काव्यानन्द इसी लोक का अनुभव है उसका आधार निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभव है।

२—परन्तु वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभव नहीं है वह इन्द्रियातीत (Super-Sensuous) अनुभव है।

३—यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। पर-प्रत्यक्ष मन की सत्-प्रधान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वितर्क अथवा अपने पराये का ज्ञान तथा अनुभव नहीं रहता। इस प्रकार पर-प्रत्यक्ष-गम्य अनुभव से एक प्रकार से, साधारणी-कृत अनुभव का ही अभिप्राय है। ❀

❀ पाद टिप्पणी—साहित्यालोचन में बाबू साहब ने पर-प्रत्यक्ष-गम्य (Super-Sensuous) को साथ-साथ दे दिया है, इससे दोनों के विषय में एक दूसरे के पर्याय होने का भ्रम हो सकता है। परन्तु एक ही वस्तु के विशेषण होते हुए भी ये दो भिन्न अर्थों का बोध कराते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह विवेचन सर्वथा भारतीय काव्य शास्त्र के अनुकूल है और इसमें उसी के गुण-दोष वर्तमान हैं। उपर्युक्त विशेषणों में से पर-प्रत्यक्ष-गम्य' काव्यानन्द के केवल प्रकार की ओर संकेत करता है, और 'इन्द्रियातीत' अभावात्मक है। ये दोनों मिलकर भी रस के स्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर पाते: पहला वर्णनात्मक है, दूसरा निषेधात्मक। इस प्रकार सार केवल यही रह जाता है कि काव्यानन्द एक विशिष्ट अनुभव है जो इन्द्रियों से परे है। परन्तु 'विशिष्ट' और 'इन्द्रियों से परे' पद भी तो व्याख्या चाहते हैं। 'इन्द्रियों से परे' का एक स्पष्ट अर्थ 'आध्यात्मिक' हो सकता है—किन्तु यह अर्थ यहाँ पर निश्चित ही अभिप्रेत नहीं है क्योंकि काव्यानन्द को शुद्ध आध्यात्मिक अनुभव कहीं नहीं माना गया। स्थूल दृष्टि से दूसरा अर्थ 'बौद्धिक' भी किया जा सकता है, परन्तु वह भी यहाँ निर्दिष्ट नहीं है। इस प्रकार यह विशेषण अभाव का द्योतक भर ही रह जाता है, वास्तविक रूप को स्पष्ट नहीं कर पाता। इसी को अनिर्वचनीय आदि शब्दों से व्यक्त करना अपनी बौद्धिक पराजय स्वीकार कर लेना है। काव्यानन्द की यह विशिष्टता एवं अतीन्द्रियता आज के मनोविज्ञान को सर्वथा अमान्य है। इसके प्रमाण में हम प्रसिद्ध मनोविज्ञानी आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स का एक बल तर्क उपस्थित करते हैं, जिसका आशय कुछ इस प्रकार है:

काव्यानुभूति को यदि विशिष्ट अनुभव मान लिया जाय तो फिर भी प्रश्न यह उठता है कि उसका माध्यम क्या है? क्या उसके लिए किसी विशिष्ट इन्द्रिय अथवा अनुभूति-संस्थान की कल्पना की जायगी।

काव्य के उद्देश्य के विषय में आपका दृष्टिकोण गम्भीर और व्यापक है। काव्य की सिद्धि आप केवल मनोरञ्जन में नहीं मानते और इसीलिए लोकप्रियता को उसकी गौरव-कसौटी मानने से साफ़ इन्कार करते हैं। काव्य की सिद्धि आनन्द की स्फूर्ति द्वारा भावनाओं के उन्नयन और परिष्कृति में है—इसी दृष्टि से वह लोक-हित में सहायक होता है।

आनन्द को बाबू जी ने मूल लोक-हित माना है—और उसको रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित से निश्चय पूर्वक पृथक् दिखाया है:—

"पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर, अथवा आनन्द-पूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द-झलक उस काल में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है, और

काव्य के लिए यही मूल लोक-हित है। काव्य तथा कला के संख्या-हीन रूपों को देखते हुए और उनके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़ि-बद्ध नियमित लोक-हित को हम काव्य या कला का अङ्ग नहीं मान सकते।"

उन्होंने काव्य और आचार के सम्बन्ध को स्वीकार अवश्य किया है—परन्तु उसको अधिक दृढ़ और अनिवार्य नहीं बनाया। शुक्लजी के काव्यालोचन में नीति के बन्धन अत्यन्त सुदृढ़ और कठोर हैं—वहां लोक-धर्म के प्रतीक शिवं का प्रभुत्व है, सत्य और सुन्दर दोनों उसके पीछे हैं। परन्तु बाबू जी ने सुन्दर और सत्य को काव्य के लिए अनिवार्य माना है, शिवं की अनिवार्यता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। धार्मिक आदेशों अथवा नीति-विधान को काव्य की सिद्धि मानने वाले आलोचकों की रुचि को उन्होंने स्पष्ट रूप में निकृष्ट माना है—'उनका सार अर्थ यही जान पड़ता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परम्परा का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इतिहास से इस निष्कर्ष के विपरीत कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नहीं कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है। उनमें कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भाव-व्यञ्जना उनके लिए कोई अर्थ नहीं रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़ि-बद्ध आचार-विचारों की कसौटी पर कसते हैं।"

यही कारण है कि शुक्लजी जहाँ 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को सहन भी नहीं कर सकते, वहां श्यामसुन्दरदास जी थोड़ा व्यापक और विवेक-सम्मत रूप देकर लगभग उसे स्वीकार ही कर लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वे डा० ब्रैडले अथवा मि० क्लाइववेल की तरह कला की दुनिया को एक नई, अपने में पूर्ण, एवं स्वतन्त्र सृष्टि नहीं मानते—परन्तु वे कला पर किन्हीं बाहरी मूल्यों का आरोपण करने के विरुद्ध हैं। 'कला कला के लिए' सिद्धान्त में कला के आनन्द पक्ष पर ही बल दिया गया है—इस दृष्टि से वह भारतीय रसवाद के अनुकूल है, यही उनका मत है; और इसीलिए वे उसको विशेष

आपत्तिजनक नहीं मानते। हाँ, हठवादियों के 'वैचित्र्यवाद' का वे घोर विरोध करते हैं।

मौलिकता—बा० श्यामसुन्दरदास ने काव्य के सभी अङ्गों का विस्तृत विवेचन किया है और पूर्व तथा पश्चिम के प्रायः सभी समीक्षा-सिद्धान्तों पर दृष्टिपात किया है। परन्तु उनकी मौलिकता पर अनेक बार और अनेक प्रकार से आपत्ति उठाई गई है। शुक्लजी ने अपनी अमोघ सव्यंग्य शैली में उनके साहित्यालोचन को संकलन कहा है। जहाँ तक नवीन विचारों तथा काव्य-सिद्धान्तों की उद्भावना का प्रश्न है, बाबू जी क्या हिन्दी का कोई भी आलोचक या विचारक इस श्रेय का अधिकारी नहीं है। विदेश के भी आधुनिक साहित्य-शास्त्री इससे वञ्चित रह जाते हैं। और वास्तव में साहित्य-शास्त्र की मौलिकता का अर्थ नवीन सिद्धान्तों अथवा तथ्यों की उद्भावना या आविष्कार नहीं है। यहाँ मौलिकता से अभिप्राय विवेचन की मौलिकता का ही है। बाबू जी ने अपनी सफाई में यही तर्क उपस्थित किया है और जहाँ तक इस सिद्धान्त का सम्बन्ध है, हम सर्वथा उनसे एकमत हैं। परन्तु साहित्यालोचन के मूल-रूप पर यह सफाई लागू नहीं होती—उसमें दिये हुए सिद्धान्त और विचार तो अमौलिक हैं ही, उसकी विवेचन-पद्धति भी अनुकृत है। उसकी रूप-रेखा, उसका प्रसङ्ग-विभाजन, उसके शीर्षक-उपशीर्षक प्रायः हडसन की लोक-प्रिय पुस्तक 'इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' से ग्रहण किये गए हैं। कला के विवेचन में उनका आधार वर्सफोल्ड की पुस्तिका 'जजमेन्ट इन लिटरेचर' है। काव्य, साहित्य, कविता, शैली, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि के विवेचन बहुत-कुछ हडसन की पुस्तक से अनूदित कर दिए गए हैं। नाटक के प्रसङ्ग में भारतीय नाट्य-विधान की व्याख्या कीथ तथा विश्वनाथ से और पश्चिमीय नाटक के अङ्गों का विवेचन हडसन से प्रायः ज्यों-का त्यों ले लिया गया है। इस प्रकार साहित्यालोचन अपने आदिम रूप में मौलिक नहीं है—उसकी मौलिकता के विरुद्ध किये गए आक्षेप अप्रिय सत्य हैं। अप्रिय हम इसलिए कह रहे हैं कि इनमें उस परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया जिसमें कि साहित्यालोचन की रचना हुई थी। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कह कर प्रथम संस्करण की भूमिका के कुछ वाक्य उद्धृत किए देते हैं—"एम० ए० के पाठ्य-क्रम में तीन विषय ऐसे रखे गए जिनके लिए उपयुक्त पुस्तकें नहीं थीं। वे विषय थे भारतवर्ष का भाषा-विज्ञान,

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास, और साहित्यिक आलोचना। इन तीनों विषयों के लिए अनेक पुस्तकों के नामों का निर्देश कर दिया गया, जिनकी सहायता से इन विषयों का पठन-पाठन हो सके, परन्तु आधार-स्वरूप कोई मुख्य ग्रन्थ न बनाया जा सका। सबसे पहले मैंने साहित्यिक आलोचना का विषय चुना और उसके लिए जिन पुस्तकों का निर्देश किया गया था, उन्हें देखना आरम्भ किया। मुझे शीघ्र ही अनुभव हुआ कि इस विषय का भली-भाँति अध्ययन करने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को पहले आलोचना के तत्वों का आरम्भिक ज्ञान करा दिया जाय। इसके लिए मैंने सामग्री एकत्र करना आरम्भ किया और सम्पूर्ण ग्रन्थ के परिच्छेदों का क्रम, विषय का विभाग, आदि अपने मन में बनाकर उसे लिखना आरम्भ किया। इधर मैं लिखता जाता था और उधर उसको पढ़ाता जाता था।- इस प्रकार यह ग्रन्थ क्रमशः प्रस्तुत हो गया।" स्वभावतः इस प्रकार रचे गए ग्रन्थ में 'उद्‌भावना' की अपेक्षा 'संकलन' को ही सम्भावना अधिक हो सकती थी।

संशोधित संस्करण में आकर इस दोष की कुछ शुद्धि हो गई है। यद्यपि मूल संस्करण की सामग्री भी इसमें प्रायः ज्यों-की-त्यों समाविष्ट कर दी गई है, फिर भी उसके अतिरिक्त इसमें और भी उपयोगी सामग्री जोड़ी गई है जिससे विवेचन अधिक व्यापक तथा समयानुकूल होने के साथ ही भारतीय भी अधिक होगया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सामग्री भी अधिकांशतः बाबू जी की अपनी नहीं है, परन्तु एक तो इसके आधार अनेक एवं विविध हैं—दूसरे अब बाबूजी को उसे पचाकर ग्रहण करने का अवकाश था। तीसरे, उनका दृष्टिकोण भी इस समय तक परिपक्व हो चुका था। अतएव इस संस्करण के विषय-प्रतिपादन में अपनापन आ गया है और इसे पढ़कर एक साथ संकलित अथवा अमौलिक नहीं कहा जा सकता।

मौलिकता की कमी का यह आरोप बाबू जी की व्यावहारिक आलोचना पर भी लगाया जाता है। जैसा कि आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, उनकी व्यावहारिक आलोचना का सबसे अधिक विकसित रूप 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में मिलता है। उसका काल-विभाजन, कवियों और लेखकों पर आलोचनात्मक सम्मतियां प्रायः शुक्ल जी के इतिहास पर आधारित हैं। परन्तु इस इतिहास की प्रमुख विशेषता काल-गत प्रवृत्तियों का निरूपण ही

है। इसमें विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा कलागत प्रवृत्तियों के प्रकाश में उनकी साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। कहा जा सकता है कि सामग्री यहाँ भी प्रायः उधार ली हुई है। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हवाला इतिहास-ग्रन्थों से लिया गया है और कला के प्रवृत्ति-गत विकास की पूरी सामग्री जैसा कि बाबूजी ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है, 'राय कृष्णदास की कृपा का फल है।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन काणे से लिया गया है। परन्तु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे अथवा कला का भी मर्मी हो, उसके साथ अन्याय होगा। हाँ, यह नक्शा बाबूजी का अपना है—हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना का यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारों ने कभी अपने को माना भी नहीं,—उन्होंने असन्दिग्ध शब्दों में साहित्यालोचन की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि "× × × इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी भाषा में व्यञ्जित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना में 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते हैं:—

१—जो आलोचक नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग में आता है।

२—जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर सके—परन्तु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग में आता है।

३—जो सिद्धान्त और सामग्री दूसरों से ग्रहण करे, परन्तु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग में आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबू जी इसी तीसरे वर्ग में आते हैं।

आलोचना-शैली—बाबूजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है। परन्तु इस

प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सके—दोनों प्रकार के सिद्धान्त उनमें पृथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एक रूप नहीं हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नहीं थी कि इन सिद्धान्तों को पचाकर आत्मसात् कर ले और इस प्रकार उन्हें अपनी अनुभूति का अङ्ग बना ले। उन्होंने दोनों काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परन्तु उनको अनुभूत नहीं किया। बुद्धि में भेद का अस्तित्त्व अनिवार्य है, वह अनुभूति में आकर ही मिटता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों को बुद्ध से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अङ्ग भी बन गए थे। उनकी साहित्यिक-चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नए-से-नए अथवा बड़े-से-बड़े सिद्धान्त के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चय-पूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परन्तु उसके स्थान पर शुक्ल जी की आलोचना में वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें निःसन्देह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। बाबू जी ऐसा नहीं कर पाए—इसीलिए उनकी आलोचना में भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानान्तर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्यामसुन्दरदास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नहीं कर पाते। उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारों ओर से लगाए गए, वे बहुत-कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए वे सूक्ष्म जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अन्तिम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अन्तर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौन्दर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। वहाँ आप देखिए कि बाबू जी ने विविध दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्त में यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुन्दर' की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है × × × ? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है, परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी। वह यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अङ्ग है। यह बात दूसरी है कि

है। इसमें विभिन्न कालों की राजनीतिक, सामाजिक तथा कलागत प्रवृत्तियों के प्रकाश में उनकी साहित्यिक विशेषताओं का अध्ययन प्रस्तुत किया गया हैं। कहा जा सकता है कि सामग्री यहाँ भी प्रायः उधार ली हुई है। राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का हवाला इतिहास-ग्रन्थों से लिया गया है और कला के प्रवृत्ति-गत विकास की पूरी सामग्री जैसा कि बाबूजी ने भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है, 'राय कृष्णदास की कृपा का फल है।' इसी प्रकार रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि में विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों का विवेचन काणे से लिया गया है। परन्तु साहित्य के आलोचक से यह आशा करना कि वह राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों का भी मौलिक इतिहास उपस्थित करे अथवा कला का भी मर्मी हो, उसके साथ अन्याय होगा। हाँ, यह नक्शा बाबूजी का अपना है—हिन्दी में ऐतिहासिक आलोचना का यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण प्रयत्न है—और इससे अधिक श्रेय का अधिकारी उन बेचारों ने कभी अपने को माना भी नहीं,—उन्होंने असन्दिग्ध शब्दों में साहित्यालोचन की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि "× × × इस ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है, परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसको हिन्दी भाषा में व्यञ्जित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है।"

आलोचना में 'मौलिकता' के हम तीन वर्ग बना सकते हैं:—

१—जो आलोचक नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना करे—और मौलिक सामग्री प्रस्तुत कर मौलिक रीति से विषय का प्रतिपादन करे, वह पहले वर्ग में आता है।

२—जो नवीन सिद्धान्तों की उद्‌भावना न कर सके—परन्तु सामग्री और उसका विवेचन जिसका अपना हो, वह दूसरे वर्ग में आता है।

३—जो सिद्धान्त और सामग्री दूसरों से ग्रहण करे, परन्तु उनको प्रस्तुत अपने ढंग से करे, वह तीसरे वर्ग में आता है।

मौलिकता की दृष्टि से बाबू जी इसी तीसरे वर्ग में आते हैं।

आलोचना-शैली—बाबूजी की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में भारतीय तथा पश्चिमीय काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने का प्रयत्न लक्षित होता है—अपनी भूमिकाओं में भी उन्होंने दोनों के समन्वय पर बार-बार बल दिया है। परन्तु इस

प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सके—दोनों प्रकार के सिद्धान्त उनमें पृथक्-पृथक् ही मिलते हैं, मिलकर एक रूप नहीं हो पाए। इसका कारण यह है कि उनकी साहित्यिक चेतना इतनी प्रबल नहीं थी कि इन सिद्धान्तों को पचाकर आत्मसात् कर ले और इस प्रकार उन्हें अपनी अनुभूति का अङ्ग बना ले। उन्होंने दोनों काव्य-शास्त्रों का अध्ययन किया और उनके सिद्धान्तों को बुद्धि से ग्रहण भी किया, परन्तु उनको अनुभूत नहीं किया। बुद्धि में भेद का अस्तित्त्व अनिवार्य है, वह अनुभूति में आकर ही मिटता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल की यही विशेषता थी—उन्होंने पूर्व और पश्चिम के सिद्धान्तों को बुद्ध से ग्रहण कर अपनी अनुभूति की अग्नि में पचाकर एक कर लिया था। इस प्रकार वे न केवल संश्लिष्ट ही हो गए थे, वरन् शुक्लजी की अपनी अनुभूति का अङ्ग भी बन गए थे। उनकी साहित्यिक-चेतना इतनी सजग और प्रखर थी कि नए-से-नए अथवा बड़े-से-बड़े सिद्धान्त के प्रति वह तीव्र प्रतिक्रिया करती थी और अपनी अनुभूति पर कसकर ही उसका निश्चय-पूर्वक त्याग अथवा स्वीकार करती थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार उदारता की हानि हुई, परन्तु उसके स्थान पर शुक्ल जी की आलोचना में वह प्रगाढ़ता, वह घनता तथा अनिवार्यता आ गई जिसके कारण उन्हें निःसन्देह विश्व के किसी आलोचक के समकक्ष खड़ा किया जा सकता है। बाबू जी ऐसा नहीं कर पाए—इसीलिए उनकी आलोचना में भारतीय और पश्चिमीय तथा प्राचीन और नवीन मूल्य समानान्तर चलते हैं—समन्वित और एकसार होकर 'श्यामसुन्दरदास' की वैयक्तिक छाप ग्रहण नहीं कर पाते। उन पर अमौलिक होने के आरोप, जो चारों ओर से लगाए गए, वे बहुत-कुछ इसी कारण थे। और, इसलिए वे सूक्ष्म जटिलताओं को चीरते हुए अपने निरूपण को अन्तिम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होते—उदाहरण के लिए काव्य के उपकरणों के अन्तर्गत उनके द्वारा किया हुआ सौन्दर्य का निरूपण पेश किया जा सकता है। वहाँ आप देखिए कि बाबू जी ने विविध दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्त में यह कह दिया है—"क्या काव्यगत 'सुन्दर' की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है × × × ? इसका उत्तर नकार में ही देना पड़ता है, परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट हुए बिना नहीं रह सकी। वह यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अङ्ग है। यह बात दूसरी है कि

सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असम्भव हो।" शुक्ल जी के लिए इस प्रकार बीच ही में रुक जाना असम्भव था। इसीलिए तो मूलतः शिक्षक और व्याख्याता होते हुए भी वे चिन्तन की गहराइयों में बढ़ते हुए स्रष्टा के धरातल को भी अनेक बार छू लेते थे—परन्तु श्यामसुन्दरदास जी अध्यापक के धरातल से ऊपर नीचे कभी नहीं गए। वे एक-रस साहित्य के शिक्षक और व्याख्याता ही रहे और शिक्षक तथा व्याख्याता के तीन प्रमुख गुण उनमें वर्तमान थे। ग्रहण में विवेक, व्याख्यान में हठधर्मी का अभाव और अभिव्यक्ति में स्वच्छता। यही उनका अपना विशिष्ट धरातल था—और इस पर उनकी सफलता एवं महत्ता असन्दिग्ध है। आरम्भ से ही हिन्दी के विद्यार्थी के लिए साहित्यालोचन की अनिवार्यता इसका अकाट्य प्रमाण है। आज विदेशी आलोचना-साहित्य से उसका इतना घनिष्ठ परिचय है—हिन्दी का अपना आलोचना-साहित्य भी यथेष्ठ विकसित और समृद्ध हो गया है, परन्तु कोई विद्यार्थी साहित्यालोचन की उपेक्षा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से साहित्या-लोचन को हिन्दी में जितनी सफलता मिली है उसकी आधी भी उसके आधार-ग्रन्थ 'इण्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ़ लिटरेचर' को अङ्गरेजी में नहीं मिली।

—— - ——

:१२:

प्रेमचन्द

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वतः स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरांत भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दुखी जनता, गाँव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मज़दूर, निम्न-वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी— उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, ज़मींदार, और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पण्डित,पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वञ्चित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत् असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रान्त थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानव-वादी लेखकों का प्रभाव काफ़ी हद तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही संत था— उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामञ्जस्य था। इसी लिए इस धरातल पर पहुँचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो

जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूँजीपतियों और जमींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूँजीवाद भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुःख दर्द का शिकार है जिस तरह मज़दूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के खाने बना लेना कि उसके दुःख-दर्द का वहां प्रवेश ही न हो सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन सम्भव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सम्भव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दंड का निषेध नहीं है—उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारावास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्म-घात तक का दंड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इस में संदेह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएं होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग; जाति, स्वभाव, संस्कार,

सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र से—उनकी तुलना कीजिए : एक ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत, यहाँ तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ है कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अत्यंत पूर्ण इतिहास दे दिया है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं : एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यंत सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वाङ्ग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यंत स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहाँ 'नार्मल' के अर्थ में कर रहा हूँ। उनका दृष्टिकोण मनोग्रन्थियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था उसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अवचार का अभाव था। मनोग्रन्थि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रन्थियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं : अर्थ-मूलक और काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेमचन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते

हैं मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ-सुलझाकर उसके मूल कारणों को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सुस्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टिकोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता; और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेक-हीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ-दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है। और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धांतों द्वारा। उधर किसानों और मज़दूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है; वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु जमीदारों और पूँजीपतियों के प्रति भी यह कलाकार अपना संतुलन नहीं खो बैठा—उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मज़दूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने ज़मींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोध के भाव को उभारना न्याय्य नहीं समझा। दूसरे शब्दों में, वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर सम्पूर्ण जीवन को उसी रंग में रंगकर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचन्द ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

जीवन की काम-मूलक ग्रन्थियाँ कहीं अधिक विषम और सूक्ष्मगहन होती हैं। फ्रॉयड के सिद्धांत को अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि मानव-मन की अधिकांश ग्रन्थियों का आधार काम है।

साहित्य में भी कामाश्रित स्वप्न-कल्पनाओं का असाधारण योग रहता है। मैं समझता हूँ विश्व-साहित्य का बृहदांश इन्हीं काम-कल्पनाओं से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में संवर्धन प्राप्त करता है। आज के जीवन में और साहित्य में तो इसका योग और भी अधिक है। स्वदेश-विदेश का साहित्यकार कवि, नाटककार और सबसे अधिक उपन्यासकार इन काम-मूलक मनोग्रन्थियों से ही मुख्यतः उलझा है। भारत के उपन्यास-सम्राट् शरत्चन्द्र तो एक प्रकार से इनसे अभिभूत थे। हिन्दी में जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और बहुत अंशों में यशपाल के उपन्यास भी काम-लिप्त हैं। प्रेमचन्द ने इस विषय में अद्भुत स्वास्थ्य का परिचय दिया है। इस क्षेत्र में उनके उपन्यासों में महाकाव्योचित दृष्टि-विस्तार मिलता है। महाकाव्यों में शृङ्गार, वीर आदि सभी प्रमुख वृत्तियों का यथोचित समावेश होते हुए भी मुख्य प्रतिपाद्य सदैव जीवन-धर्म ही होता है। उनमें शृङ्गार की महत्त्व-स्वीकृति निःसंदेह होती है, परन्तु वह कहीं भी अपने में स्वतंत्र होकर प्रतिपाद्य नहीं बन जाता। काम जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है परन्तु वह समग्र जीवन नहीं है। और न जीवन का साध्य ही। अतएव जीवनार्थी के लिए उसमें आवश्यकता से अधिक अनुरक्ति रखना श्रेयस्कर नहीं है ठीक इसी तरह जिस तरह कि उसके प्रति अनावश्यक विरक्ति और दमन का अभ्यास करना। जीवन-स्वास्थ्य का यही लक्षण है, और यह प्रेमचन्द में स्पष्ट रूप से मिलता है। प्रेमचन्द ने भी जीवन-धर्म को ही अपने उपन्यासों का प्रतिपाद्य बनाया है। काम का उन्होंने तिरस्कार नहीं किया, परन्तु उसको प्रतिपाद्य का दर्जा कभी नहीं दिया। आरम्भ में उन्होंने अवैध काम-सम्बन्धों को प्रायः बचाया है, परन्तु बाद के उपन्यासों में इनको भी सहज रूप में अंकित कर दिया है। सामाजिक जीवन का एक रूप यह भी है—कुल मिलाकर यह कल्याणकर नहीं है; परन्तु फिर भी इसका अस्तित्व तो है ही। बस इसी रूप में प्रेमचन्द ने इसका अंकन किया है—उसमें कहीं भी रस नहीं लिया। उनकी अपनी जीवन-घटना, जिसका उन्होंने श्रीमती शिवरानीजी से अन्तिम क्षणों में उल्लेख किया था; इसकी साक्षी है। स्वस्थ-साधारण जीवन के लिए कामोपभोग आवश्यक हैं, परन्तु वह जीवन का उद्देश्य किसी भी रूप में—और किसी भी दशा में नहीं हो सकता; व्यक्ति को उसमें खो नहीं जाना चाहिए। ऐसा करने पर जीवन का स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण यही था।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नार्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है; और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएं अत्यंत मुखर हैं। दृष्टिकोण का संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बांध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्चतर स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहां अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहां मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रहकर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है। प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है—सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतंत्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भांडों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता, वह क्षणिक

उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौन्दर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद। इस मानव-वाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्यावहारिक उपयोगिता की सीमा से आगे नहीं बढ़ती या यों कहिये कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखंडता तक पहुँचने की उन्होंने ज़रूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहां तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकांत नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानव-वाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अंतिम रूप में मानव-वाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे; द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग—जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसीलिए उनको मानव-वाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं: एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद जो क्रांति-मूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण किया। गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रांति प्रायः पाई जाती है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक का साम्राज्य था। उस समय हिन्दी-पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं कल्पना-लोक से सम्बन्ध था। प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएँ मिलीं। निदान उन्होने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया। परन्तु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरंत ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रांत रूप से किसी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं। इनकी घटनाएँ नैत्यिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है। वास्तव में प्रेमचन्द जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण-मात्र हैं। परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है। इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएं नित्य-प्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं। अर्थात् उनकी समस्याएं इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारों की भांति सैद्धांतिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं। वे सर्वथा व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं, तथा वातावरण, सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय? यही उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रान्ति-मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही, देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं : एक रोमानी दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन

आवरण में लपेटकर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा सम्भव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है : यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्श-वाद की प्रतिष्ठा की है।—सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार जगत की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं : प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है : वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हां, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूप-रंग न होकर वस्तु का यथा-तथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न करके उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहां तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूँ कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेष कर आज के कुण्ठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के

सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में, जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं : तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नार्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परन्तु तेजस्विता, गहनता, और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना शक्ति अत्यंत प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियाँ या प्रखर चेतना बाधक होती है प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं तथा पात्र, अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्बुद्ध कर सकें। तीव्र अंतर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पाई। वह उनके जीवन-दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएं भी हैं : अंतर्जगत् की समस्याएं—जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्व नहीं दिया। उनमें किसान-ज़मींदार, मज़दूर-पूँजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा, आदि बाह्य

जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रान्ति, कर्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत् के द्वन्द्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते हो नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्य जगत् और अंतर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं। वे एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उनका महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था—जब कि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गए थे, नये विश्वासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे को ओर और कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुँच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसी लिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है, और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन् दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफ़ी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिये। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं परन्तु कंकाल का बुद्धिपक्ष निश्चित हो अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहाँ दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहाँ प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द

नहीं करता, काम-से-काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहता है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

———

: १३ :

पन्त का नवीन जीवन-दर्शन

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आलोचना करते हुए आज से आठ-नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पन्त के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धि-गृहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है: पन्त के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक संघर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद, पंत-जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। ऐसे व्यक्ति के लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है, और आत्मा तथा ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत् का समाधान मिलता है। अतएव 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव-मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना ही मानेगा।

यों तो 'स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्ण-किरण' में कई प्रकार की कविताएँ हैं: अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएँ आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं; कतिपय कविताएँ प्रकृति-सम्बन्धी भी हैं, परन्तु अधिकांश कविताएँ आध्यात्मिक हैं। इसलिए इन नवीन कृतियों का प्रधान स्वर आध्यात्मिक है। ''ग्रन्थि' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुञ्जन' 'ज्योत्स्ना' और युगांत' में पन्त जी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे। बीच में 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तुवादी जीवन-दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गए। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'

दोनों में भी उन्होंने अतिभौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म सत्य और वस्तु सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है। चेतना पर वस्तु सत्य का प्रभुत्व है यद्यपि अवचेतन में आत्म सत्य की सत्ता का अन्त नहीं हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आए और पन्त जी वस्तु से आत्मा की ओर फिर प्रवृत्त हो गए—

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किन्तु चिरंतन।

उनका विकास-पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है—

दीप-भवन युग विद्युत-युग में ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित।

परन्तु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है और न यह रहस्यवाद ही है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। पन्त जी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकांत अविकृत उसका अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में—मानव-हृदय का पूर्णतम विकसित रूप आत्मा है। अतएव उसमें मानव-हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्तिमूलक, पन्त को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है, दमन नहीं है :

आज हमें मानव-मन को करना आत्मा के अभिमुख

परन्तु साथ ही,

वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद हो जिसका रज तन प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरंतन।

(लोक सत्य)

तीसरी रे भूख आत्मा की गहन।
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन ॥
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरंतन,
जहाँ मुक्ति विराजती,
औ' डूब जाता हृदय-क्रन्दन।

वहाँ सत् का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन।

किन्तु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बंध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ' धरा हो ज्योति-पावन !

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनन्द-रूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्विक उल्लास है। भूत-रत जीवन के काले लौह पाश से मुक्त अन्तश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत-लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास सृजनशील है। अतएव पन्त की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम और माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि सौन्दर्य-वैभव है—

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति ज्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता अभिसार,
धरा पर ज्योति-भरण,
हँसी लो स्वर्ण किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पन्त जी की काव्य-चेतना का सहज विकास था परन्तु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। तीन-चार वर्ष पूर्व पन्त जी उस स्थिति पर पहुँच गए थे जहाँ से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अन्ध तमस् को भेदकर नवजीवन की स्वर्ण किरण का उद्भास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु जीवन की भौतिकता के लिए सबसे बड़ी ललकार है—आज से शत सहस्र वर्ष पूर्व मानव चेतना के उस नव प्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था : "ओं क्रतो स्मर, कृतं क्रतो स्मर।" मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेदकर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम-से-कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पन्त-जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ कटुता थी वह इस अग्नि में जलकर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है, नवजीवन आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म चेतना का मूल तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, बहिरंतर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्म ज्ञान) कहा गया है—

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि करे उन दोनों का संचालन।
बहिरंतर के सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मंगल हो निःसंशय।

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व-संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एक-मात्र समाधान है। आज के द्रोह-रत मानव की यही मुक्ति है। और यह समाधान युग का सामयिक

सत्य नहीं है, युग-युग का शाश्वत सत्य है। मानव-जीवन की चिरंतन समस्या का चिरंतन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोषणा कर चुके हैं—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य अविद्यायां रताः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदो भयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से पन्त जी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहाँ स्वयं कवि के शब्दों में—

रूप रंगों का चित्र जगत्
सिमट, घुल, हो अनुभव-अवगत
विचारों भावों में परिणत,
नियम चालित लगता संतत।
भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित,
एकता में वे आलिंगित,
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जगजीवन विकसित

अर्थात 'पल्लव' के सौंदर्य-कवि के मानस का रूप-रंग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से घुलकर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चिंतन और विचार में परिणत हो गया है, जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत् के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ औषधि लेकर विश्व की वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिए आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खंडित हो रहा है। अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गई है। जीवन के मन्दिर में हँसती हुई मानव-मूर्ति के स्थान पर यन्त्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्त-प्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णतः विशृङ्खल हो गया है। मध्यवर्ग कृमिव्यूह की तरह

क्षुद्र स्वार्थों से ग्रस्त है। अर्थ-दस्यु उच्च वर्ग धन-मद से अन्धा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अन्ध लालसा से काँप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से, आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं:—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धान्तों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसके बाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा-पन्थों से आगे नहीं पढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वन्सात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नव शिक्षा ने उसे पूर्णतः भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं : स्त्री, धन, पद, मान। बस इनके आगे उसकी चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अधःपतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन में संतुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अन्तः स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्‌युत और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहाँ तक कि भूत शक्ति का मूलस्रोत भी आज अणु ने समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु-जगत् का विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन-अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त कर ली है। एक प्रकार से सम्पूर्ण दिशा काल पर उसका आधिपत्य है—

दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

परन्तु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुखी और विषण्ण है। क्योंकि उसका अन्तर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन का सामंजस्य नष्ट हो गया है—

बहिर्चेतना जागृत जग में अंतर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अंतर्जीवन मूर्छित मृत।

जब तक यह सामंजस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव

और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खंडित मानवता—मानवीय एकता—का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति सम्भव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव-एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्वों से ऊपर उस परम तत्व तक पहुँचती है—

अन्न प्राण मन आत्मा केवल
ज्ञान भेद हैं सत्य के परम,
इन सब में चिर व्याप्त ईश रे,
मुक्त सच्चिदानन्द चिरंतन।

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दावली में यह भारतीय अद्वैतवाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है। जो आज से कुछ दशाब्दियां पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का दूसरा पश्चिम का है, एक प्राचीन दूसरा नवीन है, इस तरह की कुछ धारणा मन में होती है। परन्तु तात्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात् यह ज्ञान कि विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकांत व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्मुख हो गया। परन्तु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत) को मिथ्या नहीं माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिविम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत् में स्व और पर का भाव, महान् और लघु का भाव, उच्च निम्न का भाव अर्थात् किसी भी प्रकार के पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधाता की सृष्टि के सभी प्राणी—कीरी और कुञ्जर समान हैं। मानव-जगत् में राजा-रंक, धनी-निर्धन,

ब्राह्मण और शूद्र—आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद भ्रांति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिविम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी संतों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचारा-धारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व-बन्धुत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बन्धुत्व पन्त में विश्व संस्कृति बन गया है।

हमें विश्व संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।

रवीन्द्र पर जहाँ पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त पर वहाँ परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है—

मानवीय एकता जातिगत तन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव मुखश्री कर मंडित।

यह 'मनःस्वर्ग' आत्म-संस्कार (Sublimation) का ही काव्यमय नाम है।

पन्त की इस जीवन दर्शन की ओर आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है। ज्योत्सना, जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की सबल उद्घोषणा है। युगांत में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रंग देना आरम्भ किया था परन्तु युगवाणी और ग्राम्या में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिन्तन-प्रवृत्ति बहुत-कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिंता-धारा का स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अन्त में सन् १९४४ की अस्वस्थता ने उसे पुनः अन्तर्मुख चिंतन पर बाध्य किया और स्वर्ण-धूलि तथा स्वर्ण-किरण में उपर्युक्त चिन्ता-धारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति

पंत जी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य चेतना के निर्माण में प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावतः उनके कवि व्यक्तित्व के विकास के

साथ-साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्त्तन होता रहा है। स्वर्ण-किरण में जीवन की भांति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना में एक सहज सात्विक भावना का समावेश हो गया है। ऐन्द्रिय उपभोग की भावना जो पन्त में पहले भी अत्यन्त संयमित थी, इन रचनाओं में प्रायः निःशेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिंतन का प्रमुख्य हो गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इन नवीन प्रकृति-चित्रों में रूप-रंगों का वैभव अब नहीं रहा—वास्तव में रूप-रंग का इतना प्राचुर्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुञ्जन, ज्योत्सना आदि के रंग इनमें आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म-तरल हो गए हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्विक उल्लास है जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढ़ि के संयत-गम्भीर आनन्द ने ले लिया है।

भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन।

यह उसे चिंतन की ओर प्रेरित करता है।

निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का,
आत्मा गोपन करती चिंतन।

सामाजिक चेतना

तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओं का है। इनकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्म-परक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज-दर्शन में जीवन के आंतरिक तत्त्व-गत (Essential) मूल्यों का ही महत्त्व है, बाह्य, औपचारिक मूल्यों का नहीं। सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्यांकन भौतिक उपकरणों द्वारा नहीं वरन् मानसिक एवं आत्मिक उपकरणों के द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार

'पतिता' कविता में जब कि

क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये
बहू का नीच कलंकित।

और,

फूटा करम, धरम भी लूटा
शीष हिला रोते सब परिजन,
हा, अभागिनी ! हा कलंकिनी !
खिसक रहे गा-गाकर पुरजन ।

तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित,
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित ।

इसी प्रकार 'परकीया' में, पातिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है :

पति-पत्नि का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम-निरत यदि दंपति जीवन,
भोग-मात्र का परिणय साधन ।
पंकिल जीवन में पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नहीं सत्य जो आप हृदय से
शेष शून्य जग का आडम्बर ।

आप देखें कि इन दोनों उद्धरणों का सारांश बिलकुल एक है :

मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित

और

वही सत्य जो आप हृदय से ।

सामाजिक उत्कर्ष

इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिए भौतिक विभव की अपेक्षा मानव गुणों का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है । और मानवगुणों के उत्कर्ष का

मूलाधार है मनोस्वास्थ्य, जिसमें भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण सन्तुलन हो, जिसमें सामाजिक एवं लैंगिक द्विधा की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म संस्कार जिसके लिए प्रीति-मूलक सृजनात्मक भावनाओं का संवर्धन आवश्यक है :

रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन रस की धारा
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की
तुम त्याग भोग को सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे।

राजनीतिक उत्कर्ष

इसी प्रकार भारत के मुक्ति दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यतः उसके भौतिक उत्कर्ष की नहीं वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मंगल-कामना करता है :

नव जीवन का वैभव जागृत हो जन गण में
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में।
रक्त सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन
शांति प्रीति सुख का भू-स्वर्ग उठे सुर-मोहन॥

उसकी राष्ट्रीयता अथवा देश-भक्ति संकुचित नहीं है। भारतमात्र का कल्याण उसका प्रेय नहीं है—वह भारत के हित को विश्व-हित के साथ एक करके देखता है। भारत की दासता उसकी अपनी दासता नहीं थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी। इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश-मात्र की मुक्ति नहीं है। वह विश्व-जीवन की मुक्ति है, क्योंकि उसे विश्वास है कि अपनी महान् सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध भारत एक नवीन सांस्कृतिक आलोक का वितरण करेगा। इस प्रसंग में मुझे अचानक ही प्रधान-मन्त्री के अनेक वक्तव्यों का स्मरण हो आता है। उनमें प्रायः सभी में इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व-कल्याण के साथ ग्रथित है। वह संकुचित राष्ट्रीयता के मोह में पड़कर विश्वादर्शों के लिए ही सतत प्रयत्नवान रहेगा :

"मैंने भारत के हितों का ध्यान रखा है, क्योंकि स्वभावतः ही यह मेरा प्रथम कर्त्तव्य था। मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अंग माना है। हमारे गुरु महात्मा गांधी ने यही शिक्षा दी है। उन्होंने

हमें भारत के स्वातंत्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शान्ति और मित्रभाव से रहने का उपदेश दिया है। आज संसार में स्थान-स्थान पर संघर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है इसलिए हमें प्रत्येक ऐसे कार्य का, जिससे यह द्वन्द्व कम हो, स्वागत करना चाहिए।"

दोनों के आदर्शों में कितना निकट साम्य है, और यह केवल संयोग नहीं है। सदा से ही, साहित्य इस प्रकार, अपने एकांत कक्ष से राजनीति को स्वपन और आदर्श देता रहता है। इसलिए तो कवियों को विश्व का जन्मना नियामक कहा गया है।

अतीत-प्रेम

इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है अतीत के प्रति आकर्षण। हमारे प्रमुख कवियों में यह प्रवृति सबसे अधिक प्रखर थी प्रसाद में। पंत को आरम्भ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। वे सदा से भविष्य के स्वपन-द्रष्टा कवि रहे हैं। इन नवीन कविताओं में पहली बार सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है। कवि पहली बार अपनी प्राचीन अध्यात्म-पूत संस्कृति वेद, उपनिषद, सीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और सम्भ्रम से आकृष्ट हुआ है। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओं में आस्तिक प्रश्रय भाव भी मिलता है। 'स्वर्णधूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। इन कविताओं द्वारा कवि आज के भूत-त्रस्त जीवन में शांति का संचार करने के लिए मानो भारत की भूत-पावनी संस्कृति की आत्मा का आवाहन करता है:

शांति शांति दे हमें शांति हो व्यापक उज्ज्वल,
शांति धाम यह धरा बने, हो फिर जन-मंगल।

बहुत सी कविताओं में उपनिषद् मन्त्रों के प्रेरणा-तन्तु विद्यमान हैं। कहीं उपनिषद् के 'द्वासुपर्णा' आदि रूपकों को ग्रहण किया गया है और कहीं उसके आर्षवचनों को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्णकिरण' में अशोक-वन नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनोगाथा का अध्यात्म-परक विश्लेषण-चित्रण करता है:

नित सत् राम, शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता
प्रकृति शिखा-सी उठे, शक्ति चित्
उतरे. निखिल जगत् में शिक्षा।

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य मेघदूत, कुमारसम्भव आदि के शतरंग कल्पना-चित्र भी इन कविताओं में स्थान-स्थान पर मणियों की भांति टँके हुए हैं :—

सम्भव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर-मिथुनों से हों कूजित,
छाया निभृत गुहाएं उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित

+ + +

अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख-सी लज्जित
बढ़ती चन्द्र-कला भी गिरिजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियों में पन्त को पुरातन के प्रति सबसे कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक है। उनका रहन-सहन अब तक बहुत-कुछ पश्चिमी ढङ्ग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शेली, कोट्स और टेनिसन से अधिक काव्य-प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षट्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचार-धारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का संवर्द्धन-संस्कार करते थे, उस समय पंत को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पड़ता था। 'स्वर्ण-धूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' में पंत ने अपने अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है।

भारतीय ही नहीं वल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इस युग के वयः प्राप्त कवियों के देखे पंत के व्यक्तित्व में भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सबसे कम रहा है। परन्तु अब जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँचकर वे सप्रश्रय भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव में स्थैर्य आएगा।

काव्य-गुण

विचार-सामग्री (Thought-Content) का परीक्षण कर लेने के उपरान्त दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्यांकन में उसी का सर्वाधिक महत्त्व है। क्योंकि जहाँ तक उपयुक्त सैद्धान्तिक सामग्री का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है कि उसके लिए गद्य भी सफल माध्यम हो सकता है, और दूसरे उसमें कोई विशेष मौलिकता भी नहीं है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकाश के अध्ययन के लिए आवश्यक था और कवि-मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया। पंत की नवीन कविता का मूल्य आँकने के लिए उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमें चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, दूसरे शब्दों में इन कविताओं का मन पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है और उस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मंथनकारी तीव्रता या प्राणों को उद्वेलित करने वाली शक्ति या फिर कल्पना को समृद्ध एवं विचार-चिन्तन को प्रेरित करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सम्मुख सबसे पहले 'स्वर्ण-धूलि' की मर्मकथा, प्रणय-कुञ्ज, शरद चाँदनी, मर्म व्यथा, स्वप्न-बंधन, स्वप्नदेही, प्राणाकांक्षा, रस-स्रवण आदि कविताएं आती हैं। ये सभी कविताएं शुद्ध गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं और रस-व्यंजना की दृष्टि से इन संग्रहों की मधुरतम कृतियाँ हैं। इनमें आत्म रस से भीगी, ऐन्द्रियता के कर्दम से मुक्त एक शांत स्निग्धता मिलती है। ये कविताएं परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियाँ हैं। सहजता का काव्य-गुण, जो गीति काव्य का मूल तत्त्व है, वास्तव में इन्हीं कविताओं में मिलता है। शेष कविताओं में (भिन्न प्रकार का महत्त्व होते हुए भी) चिन्तन, विचार और कल्पना की जकड़-बन्दी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परन्तु इन कविताओं का सार तत्त्व यह आत्म-द्रव ही है। इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर

किवि ने स्वयं किया है :

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अंतर्ज्वाला में तपता मन,
मुग्ध हृदय सौन्दर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण ।

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्त्व हैं सौन्दर्य-मोह, देह की वासना हल्की-सी, दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनों के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई कोमल अन्तर्व्यथा ।

कुछ उदाहरण लीजियेः—

१. प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी ।
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी ।

पर्वत को जल दारु को अनल,
वारिद को दी विद्युत् चंचल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अबाध दी ॥

२. बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में,
एक मधुर जीवित आभा-सी लिपट गईं तुम मन में
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में ।

कुछ प्रकृति कविताएं भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैंः—

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण !
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिमकण से
घेरे मेरे जीवन के क्षण ।
मुझ अंचल-वासी को तुमने
शैशव में आशी दी
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन ।

इनके अतिरिक्त अन्य कविताओं में हार्दिक तत्त्व की न्यूनता है, परन्तु फिर भी कुछ कविताओं का महत्त्व असंदिग्ध है। यह महत्त्व गंभीर चिंतन, प्रौढ विचार और एश्वर्यमती कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है—स्वर्णोदय : जो इन नवीन संग्रहों की सबसे महान् रचना है, और पन्त की गुरुतम कृतियों में से है। इसमें मानव की जीवन-यात्रा : जन्म, शैशव, प्रौढ़ि, वार्धक्य और देहांत का गंभीर मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियों की अनेकरूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का समर्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में इस कविता में एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि, हिमाद्रि और समुद्र, इन्द्र धनुष, द्वा-सुपर्णा, अशोकवन और उधरसामंजस्य, चौथी भूख आदि कविताएं महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है ?—और प्रभाव-विश्लेषण के लिए हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसंधान करना होगा। अस्तु !—स्पष्टतः ही ये कविताएं रसवादी नहीं हैं। अर्थात् ये हमारे हृदय में वासना रूप से स्थित प्रेम, उत्साह, शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावों को प्रत्यक्ष रूप से आंदोलित करती हुई हमारे चित्त में तीव्र संवेदनमय आनन्द की सृष्टि नहीं करतीं। उधर इनका प्रभाव एकान्त बौद्धिक भी नहीं है जैसा की प्राचीन आलंकारिक काव्य जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा विदेश को नवीन बुद्धिवादी कविता का जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा की अन्यत्र कहा गया है, इन कविताओं के उपादान तत्त्व तीन हैं : लोक-कल्याण-मय दार्शनिक चिंतन, उज्ज्वल रंगीन कल्पना और मधुर सौन्दर्य-भावना। अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल ही होगा। इनमें से पहले तत्त्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शांति और दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होता है; और ये तीनों मिलकर एक मधुर बौद्धिक शांति को जन्म देते हैं। मैंने यहाँ बौद्धिक शांति शब्द का प्रयोग जान-बूझकर इस आशय से किया है कि यह शांति आध्यात्मिक शांति से

भिन्न है। आध्यात्मिक शांति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति, और इन कविताओं के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। यहां तक प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शांति से क्या अभिप्राय है ? बौद्धिक शांति से मेरा अभिप्राय उस शांति से है जो बौद्धिक विश्वास के ग्रहण से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में वह शांति जो कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण करने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शांति वास्तविक एवं पूर्ण शांति नहीं है आंशिक और एक प्रकार का शान्त्याभास है। परन्तु यह इन कविताओं का दोष नहीं है, यह तो आज के बुद्धि-त्राण मानव-जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने में असमर्थ है, क्योंकि वह बुद्धि को वश में नहीं कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शांति की अनुभूति सम्भव नहीं है। और फिर पन्त जैसे व्यक्ति के लिए तो यह और भी दुर्लभ है क्योंकि पन्त के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अंग है उनकी अनुभूति। पन्त ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहां मुझे गुञ्जन की वे पंक्तियां फिर याद आ जाती हैं:—

सुनता हूँ उस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।

यह पन्त की कदाचित् अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन-गंभीर विश्व जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य है। परन्तु पन्त जी यह नहीं कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए वीचि-माला अर्थात जीवन और जगत् के मनोरम रूपों का अवलोकन करते रहे। आरम्भ में उनकी दृष्टि में विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और कल्पना को उत्तेजित करता था; अब उसमें चिंतन और विचार का मिश्रण हो गया है। परन्तु उस जीवन सत्य को प्राप्त करने के लिए तो प्रबल अनुभूति, सम्पूर्ण रागद्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। किन्तु पन्त जी के व्यक्तित्व का यह अङ्ग सदा दुर्बल रहा है इसीलिए उनके काव्य में प्राण-रस की क्षीणता है जिसकी उन्होंने समृद्ध कल्पना गम्भीर विचार और सूक्ष्म

चिंतन द्वारा बहुत कुछ क्षति-पूर्ति करने का प्रयत्न किया है। परन्तु क्या प्राण-रस की क्षति पूर्ति सम्भव है ?

कला

कला का प्रयोग यहाँ मैं काव्य-शिल्प के अर्थ में कर रहा हूँ। शिल्प बहुत कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न-साधन अपेक्षित होता है। पन्त में ये तीनों गुण प्रभूत मात्रा में हैं, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्ण-किरण' में वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँच गई है। यह प्रौढ़ि तीन दिशाओं में लक्षित होती है: काव्य-सामग्री की समृधि परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता, और अभिव्यक्ति की परिपक्वता। 'स्वर्ण-किरण' में पन्त ने अत्यन्त-समृद्ध काव्य-सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओं का कलेवर रूप-रंग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है :—

कलरव स्वप्नातप, सुरधनु पट
शशि मुख, हिमस्मित, गात्र ले श्वसित,
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियों-सी सुरपति प्रेषित।
शरद्-चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित-
हिम की परियों का अञ्चल उड़
जग को कर लेता था परिवृत।

+ + +

चूम विकच नलिनी उर गूँजे गीत पंख मधुकर दल,
नृत्य तरंगित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू-पग-पायल।
विहंसे हिम-कण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के-से क्षण,
खोल तृणों के पुलक पंख उड़ने को भू रज के कण।

उपर्युक्त छन्दों में चन्द्रमा और चाँदनी की अपार चांदी, किरणों और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि-माणिक, हिमानी

का रेशम, स्वप्नों की पल-पल परिवर्तित छाया— प्रकाश की आँख-मिचौनी, और गीत, नृत्य, पायल का प्रभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पन्त का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है; प्रकृति के रम्य रूप आकाश, चन्द्र सूर्य, तारागण, आतप, चाँदनी, इन्द्र-धनुष असंख्य फूल, पत्ती, वृक्ष और लतायें, पर्वत, नदी, निर्झर और सागर, सोना-चाँदी, मणि-माणिक्य सभी अपने रूप रंगों का वैभव लिए कवि-कल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं। स्वर्ण-किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है और रूप-रंग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त यहाँ आध्यात्मिक जीवन के मांगलिक उपकरणों—उदाहरण के लिए मंदिर, कलश, दीपशिखा, यज्ञ-धूम, हवि, नीराजन, रजत घंटियां, अभिषेक, कपूर, चंदन, गंगा-जल, अमृत, आदि का भी यथेष्ट प्रयोग है:—

१. चन्द्रातप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ धूम-सी छाई ऊपर।
२. दीपशिखा-सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर।
३. आज समस्त विश्व मन्दिर-सा
लगता एक अखंड चिरंतन,
सुख-दुख, जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन।

'स्वर्ण-धूलि' की कुछ कविताओं में नित्य प्रति के भौतिक जीवन के साधारण उपकरणों का भी उपयोग हुआ है, परन्तु वे इस कालखंड की प्रतिनिधि रचनाएं नहीं हैं। ग्राम्या और युगवाणी की नैत्यिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र में लौट आया है जिस पर अब उसका अधिकार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियों में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है! उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के बस थोड़े-से सांध्यकालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और चित्रों में प्रायः पुनरावृत्ति मिलती है। पन्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होंने भी केवल मनोरम रूपों को ही ग्रहण किया है—प्रसाद और निराला की भांति विराट

और अनगढ रूपों को नहीं, परन्तु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म नियोजन द्वारा कर ली है। वास्तव में चयन और नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रंग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नहीं मिलता :

स्वर्ण-रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुन्दर,
रजत घंटियों सा, सुवर्ण, किरणों का झरता निर्झर।
मिहर इन्द्र-धनुषी लहरों में इन्द्र नीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीताज्ज्वल फेनों से जाता भर।

× × ×

शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया-वन नित कँपता रहता तारोज्ज्वल।

उपयुक्त पंक्तियों में आप देखिये कि सौंदर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के प्रति पन्त का ऐन्द्रिय संवेदन कितना सचेत और तीव्र है!

इन रचनाओं में कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व और प्रौढ़ हो गई है। उनकी भाषा में सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। ज्योत्स्ना' और 'युगांत' में आकर उसमें गम्भीर सामाजिक-दार्शनिक तत्त्वों को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में अभिव्यक्ति में जन-साधारण के नैत्यिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया, जो 'स्वर्ण-धूलि' की अनेक सामाजिक कविताओं में चलता रहा।

फूटा करम धरम भी लूटा।
शीश हिला रोते सब परिजन–
हा अभागिनी, हा कलंकिनी
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन।

× × ×

सूट-बूट में सजे-धजे तुम
डाल गले फाँसी का फंदा,
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखों वाला अन्धा।

परन्तु 'स्वर्ण-किरण' की कविताओं में, इधर 'स्वर्ण-धूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसंगानुकूल आर्ष शब्दावली का प्रयोगः—

ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत् में उभय रूप नभ में गिरने वाले जन
ज्योति-केतु ऋषि-दृष्टि, करे उन दोनों का संचालन।

श्रवण गगन में गूँज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर
सृजन हुताशन की हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।

———

: १४ :

राहुल के ऐतिहासिक उपन्यास

राहुल जी का महाप्राण व्यक्तित्व कर्म, वाणी और विचार तीनों की विभूतियों से सम्पन्न है। उनके विचार—पांडित्य—के दो पक्ष हैं—एक पुरातत्त्व का व्यापक और गम्भीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ठोस व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। प्रस्तुत उपन्यासों का सम्पूर्ण कलेवर इन्हीं दो आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास राजा तथा राजतन्त्र के प्रभुत्त्व से अभिभूत है। वह स्वीकृत रूप से महत्त्वाकांक्षी नृपति व्यक्तियों का इतिवृत्त रहा है। परन्तु फिर भी इससे यह परिणाम निकालना भ्रामक होगा कि भारत गणतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ था। प्राचीन युग में भी—विशेष कर उस युग में भी—जब राजा का एकछत्र आधिपत्य और साम्राज्यवादी नीति अपनी चरम सीमा को पहुँची हुई थी, लिच्छवि, मालव, यौधेय, गंधार आदि अनेक स्वतन्त्र गण थे जो क्रमशः वैशाली, मालवा, अग्रोदका तक्षशिला आदि में प्रतिष्ठित थे। इसमें सन्देह नहीं कि जैसा व्यवस्थित विवरण राजतन्त्रों के अधिष्ठाता राजाओं और उनके परिवारों का मिलता है वैसा इन गणतन्त्रों और उनकी कार्यकारिणी परिषदों का नहीं मिलता। क्योंकि व्यक्तिवादी राजा जहाँ अपने व्यक्तित्व की सभी प्रकार से संवर्धना करते हुए उसे अमर बनाने का प्रयत्न करते थे वहाँ गणतन्त्रों का जीवन सामूहिक था और समूह की अपेक्षा व्यक्ति को स्मृति-रक्षा सहज होती है। निदान इनके विषय में स्फुट उल्लेख विजेता राजाओं की प्रशस्तियों में, सिक्कों अथवा शिलालेखों में, या फिर तत्कालीन साहित्य में यत्र तत्र बिखरे मिलते हैं। महापण्डित राहुल ने इस विकीर्ण सामग्री को एकत्रित कर उस विलुप्त प्राय इतिहास को फिर से जगाया है। इस महान् अनुष्ठान में उनका समृद्ध पुरातत्त्व ज्ञान तो सहायक हुआ ही है परन्तु साथ ही बौद्ध संघ और सोवियत विधान का क्रियात्मक ज्ञान भी कम उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ।

'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' क्रमशः लिच्छविगण और यौधेयगण

के सामूहिक जीवन संघर्ष का चित्रण करते हैं। जैसा कि इन दोनों उपन्यासों में प्रधानतः एक-एक व्यक्ति के जीवन वृत्त का विवरण है—'सिंह सेनापति' में लिच्छवि-वीर सिंह और 'जय यौधेय' में यौधेय-वीर जय का, परन्तु फिर भी इनमें से कोई भी व्यक्ति-प्रधान उपन्यास नहीं है ये दोनों व्यक्ति वास्तव में गण-जीवन के भी प्रतीक हैं। ×

× सिंह एक तरुण लिच्छवि कुमार है जो तक्षशिला जाकर शस्त्र-शास्त्र और उनसे भी अधिकगण-सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। वहाँ वह थोड़े ही दिनों में गंधार गण का अङ्ग बन जाता है—और उनकी ओर से पार्शवों के शासानुशास अर्थात् फ़ारस के शाहन्शाह से युद्ध करता है—तथा उसमें विजय और यश का अर्जन करता है। यहाँ आचार्य पुत्री रोहिणी से उसका प्रेम-विवाह होता है और फिर कुछ दिन पश्चात वह सपत्नीक वैशाली लौट आता है। वैशाली में वह यथा समय संस्थागार का सदस्य बनता है—और वहाँ के सामूहिक जीवन का यथोचित विकास करता हुआ मगध के अधिपति बिम्बसार को पराजित कर अपनी दी हुई शर्तें मनाने के लिए बाध्य करता है। पहले वह निर्ग्रन्थ-आचार्य महावीर का शिष्य होकर तप और अहिंसा का व्रत लेता है, परन्तु उनसे मानसिक परितोष न पाकर अन्त में वह बुद्ध का अनुयायी हो जाता है और उनके बहुजन हिताय अनात्मवादी सिद्धान्तों में जीवन का समाधान प्राप्त करता है। 'जय यौधेय' यौधेय-कुमार है। जब सम्राट समुद्रगुप्त ने यौधेयों को हराकर भी उनकी स्वतंत्रता को थोड़ा सा कर लेकर उसे अपनी पट्टमहिषी बना लिया, तो गुप्त परिवार और यौधेय गण में सैद्धान्तिक वैषम्य के होते हुए भी स्नेह-मैत्री स्थापित हो गई। जय की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा पाटलिपुत्र के राजपरिवार में राजसी-ऐश्वर्य और वैभव के बीच होती है—परन्तु फिर भी उसके यौधेय-संस्कार इतने प्रबल हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को उस वातावरण में लिप्त नहीं होने देता, और आचार्य वसुबन्धु का संसर्ग प्राप्त करते ही अपने अस्तित्व और वैशिष्ट्य को पूर्णतः पहचान लेता है। शास्त्रीय शिक्षा में निष्णात होने के उपरान्त जय की यात्रायें आरम्भ हो जाती हैं—तक्षशिला की यात्रा तो वह पहले ही कर चुका था। अब हिमालय-उत्सव और उसके बाद सिंहल की सुदीर्घ यात्रा के लिए चल पड़ता है। सिंहल की यात्रा में उसे अनेक प्रकार के संघर्षों में होकर गुज़रना पड़ता है। पहले तो जहाज़ के टूट जाने से वह और उसका

ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्व

यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन उपन्यासों में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्त्वों का परस्पर क्या अनुपात है। इस प्रश्न का उत्तर इतिहास के साधारण ज्ञान के आधार पर भी दिया जा सकता है। यद्यपि इनकी मुख्य कथावस्तु लिच्छवि और यौधेयों के गण-जीवन से सम्बन्धित है, परन्तु प्रामाणिक इतिहास का उपयोग वास्तव में उनके विरोधी राजकुलों के वर्णन में ही किया जा सकता था। 'सिंह सेनापति' में बिम्बसार और अजातशत्रु के व्यक्तित्व तथा उनका लिच्छिवियों से युद्ध ही प्रामाणिक रूप से ऐतिहासिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जय यौधेय' में गुप्त वंश के मुख्य व्यक्ति समुद्रगुप्त-रामगुप्त ध्रुवस्वामिनी आदि तथा उनके जीवन की मुख्य घटनाएँ

मित्र सिंहवर्मा तथा उसकी पत्नी शबर-पल्ली में जा पहुँचते हैं—शबर-पल्ली का जीवन मानवता की बाल्यावस्था का जीवन है जो कृत्रिम नागरिक सभ्यता और संस्कार से सर्वथा अस्पृष्ट है। यहाँ जय को एक नवीन जीवन-व्यवस्था का अध्ययन करने को मिलता है। यहीं श्यामा नाम की तरुणी से उसका विवाह होता है—परन्तु फिर कुछ ही दिन बाद उसे और उसके मित्रों को पल्ली छोड़ने को बाध्य होना पड़ता है। वहाँ से वह पिष्टपुर और काँची होता हुआ सिंहल पहुँचता है और वहाँ जाकर अपने पूर्व निश्चय के अनुसार बौद्ध भिक्षु हो जाता है। पर भिक्षु होने का उसका उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही है। उसकी या यों कहिए कि उसके स्रष्टा राहुल जी की धारणा है कि बौद्ध विहारों की व्यवस्था और गणतन्त्र-विधान दोनों का घनिष्ट अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रहा है—अतएव जय गण-व्यवस्था का आंतरिक ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से ही बौद्ध भिक्षु बनता है। यहाँ उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक श्रेष्ठी तरुणी आत्म-समर्पण करती है, परन्तु मुक्त-प्रेम में विश्वास करता हुआ भी वह मिथ्याचार से बचने के लिए उसे अस्वीकृति कर देता है। इसके उपरांत वह सीधा प्रतिष्ठान पहुँचता है और वहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और उसकी नव-परिणीता महारानी ध्रुवस्वामिनी से भेंट करता है यहाँ उसे विक्रमादित्य के मनसूबों को समझने का अवसर मिलता है, जिससे वह यौधेय जाति के भविष्य की ओर सचेष्ट हो जाता है! और अग्रोदका आकर तरुण यौधेय और यौधेयानियों की सहायता से गण-जीवन को सुसंगठित और व्यवस्थित करने में लग जाता है। कुछ दिन बाद ही

ही प्रामाणिक हैं—अधिकारिक वस्तु में तो केवल यौधेयों का समुद्रगुप्त से युद्ध ही प्रामाणिक माना जा सकता है। शेष सम्पूर्ण विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आश्रित न होकर ऐतिहासिक कल्पना पर ही आधारित हैं—यहाँ तक कि दोनों नायक सिंह और जय भी काल्पनिक व्यक्ति हैं। पर इसके अतिरिक्ति चारा ही क्या था ? दो चार सिक्कों और एक आध प्रशस्ति में दिये हुए स्फुट उल्लेखों में सामग्री ही क्या मिल सकती है—केवल संकेत ही मिल सकते थे, और उन संकेतों का उपयोग लेखक ने अपने सम्पूर्ण कल्पना-वैभव की सहायता से किया है, इसमें संदेह नहीं।

उपन्यास-कला

आज से तीन वर्ष पूर्व 'वोल्गा से गंगा' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि राहुलजी के पास ऐश्वर्य्यमती कल्पना है, ऐतिहासिक सामग्री का अक्षय भण्डार है, एकान्त स्वच्छ और निर्भ्रान्त जीवन दर्शन है और सहस्त्रों वर्षों के व्यवधान के आर-पार देखने वाली तीव्र दृष्टि है, परन्तु कथा-शिल्प विशेष नहीं है। आज इन दोनों उपन्यासों का अध्ययन करते हुए मेरी यह धारणा और भी पुष्ट होती जाती है और मैं एक बार फिर उसी निर्णय

चन्द्रगुप्त का आक्रमण होता है—जिसमें यौधेयों के नवीन उत्साह की विजय होती है, और विक्रमादित्य की आकांक्षा अपूर्ण रह जाती है। इस विजय के पश्चात् यौधेयों का आत्म-विश्वास और भी बढ़ जाता है और अब वे सेनापति जय के संयोजन में नित्य नवीन प्रयोगों के द्वारा कर्मान्त वाणिज्य आदि का विकास तथा योग्य सन्तान उत्पन्न करते हुए अपनी गण-शक्ति का संगठन और संवर्धन करते हैं। जय भी एक वीर-यौधेय-तरुणी वसुनन्दा से जिसने युद्ध में उसकी सहायता की थी, विवाह कर लेता है और विजय, रिपुजय आदि वीर पुत्रों को गण को भेंट करता है। पर विक्रमादित्य की दृष्टि अभी इधर ही लगी हुई थी—उसने कालिदास को भेजकर जय को लोभ देने का भी प्रयत्न किया, परन्तु जब इस प्रकार सफलता न मिली तो अन्त में पूरी तैय्यारी के लिए यौधेयों पर आक्रमण कर दिया। जय अब ५० वर्ष का हो चुका था—उसके निरीक्षण में यौधेय युवक और युवतियों ने प्राणों की बाजी लगाकर आत्म-रक्षा का प्रयत्न किया परन्तु प्रतापी गुप्त सम्राट् ने उसका पूर्णान्त ही कर दिया। इतिहास के पृष्ठ से ही वह महान्-गण-तन्त्र लुप्त हो गया।

को दुहराता हूँ। इन उपन्यासों में औपन्यासिक घटना-विधान और चरित्र-चित्रण का बहुत-कुछ अभाव-सा ही है—राहुल जी न तो आकर्षक नाटकीय परिस्थितियों की सृष्टि कर सके हैं और न चारित्रिक द्वन्द्वों की उद्‌भावना ही। यह बात नहीं है कि इन घटनाओं में नाट्य-तत्त्व नहीं है। अथवा पात्रों के जीवन में संघर्ष नहीं है। उदाहरण के लिए जब यौधेय की कथावस्तु और उसके व्यक्तित्व में परिस्थिति और चरित्र दोनों के निर्माण की यथेष्ट सम्भावना है, परन्तु राहुल जी इससे यथोचित लाभ नहीं उठा सके। और इसका कारण है, वह यह कि राहुल जी कि दृष्टि प्रतिपाद्य और इतिहास पर ही केन्द्रित रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का धैर्य उनमें नहीं है। उनकी घटनाओं को गतिविधि और पात्रों का चरित्र-विकास प्रतिपाद्य के अनुसार पहले से ही इतने स्पष्ट रूप में निर्धारित हो जाते हैं कि द्वन्द्व उत्पन्न ही नहीं हो पाता। सिंह और जय दोनों के व्यक्तित्व विकास की रेखाएं एकदम सीधी हैं, उनका बहिर्मुखी जीवन सर्वथा स्वस्थ है, उनमें प्राणवत्ता है। स्रष्टा के महाप्राण जीवन की शक्ति और स्वास्थ्य उनमें साफ़ दिखाई पड़ता है। जय के चरित्र में तो अन्तर की विभूतियाँ भी पर्याप्त मात्रा में हैं, फिर भी हम अनुभव करते हैं कि उपर्युक्त सभी विशेषताएं होने पर भी वह हमारे हृदय को बहुत गहरे में जाकर नहीं पकड़ता जैसा कि होरी, सूरदास, शेखर या जैनेन्द्र, यशपाल अथवा इलाचन्द्र के सफल नारी पात्र करते हैं। नारी पात्रों में 'सिंह सेनापति' की रोहिणी और क्षेमा 'जय यौधेय' की वासन्ती व सुनन्दा एक ही सांचे में ढली हुई हैं। भामा और नन्दा में तीखापन और ज्यादा है। उनका चित्रण देखकर अमरीकन सैनिकों द्वारा किये हुए रूसी स्त्रियों के वर्णन का स्मरण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि राहुलजी की कला सृजनात्मक होने की अपेक्षा विवरणात्मक ही अधिक है। उनमें विवरण उपस्थित करने की अतुल क्षमता है—और ये विवरण सर्वत्र अत्यन्त वैचित्र्यपूर्ण और सजीव होते हैं। इसका कारण है राहुल जी का अनुभव; जो विस्तृत पांडित्य तथा देश-विदेश की यात्राओं से समृद्ध और परिपुष्ट है। मैं समझता हूँ जीवन का ऐसा चित्र-विचित्र अनुभव किसी एक व्यक्ति के लिए दुःसाध्य-सा ही है। इन उपन्यासों की वास्तविक महिमा अतीत भारत के सजीव चित्र उपस्थित करने में है—मौर्य और गुप्तकालीन भारत की सामाजिक अवस्थाओं का इतना विस्तृत

वर्णन किसी इतिहास-ग्रंथ में भी नहीं मिलेगा। परन्तु इतिहास की दृष्टि से वह कितना प्रामाणिक है इसका निर्णय कोई अधिकारी विशेषज्ञ ही कर सकता है। मैं तो यही स्वीकार कर सकता हूँ कि वह अत्यन्त रोचक, सजीव और ज्ञानवर्धक है। हां, इतना अवश्य है कि उसके सम्बन्ध में अनेक सन्देह मेरे मन में अनिवार्यतः उठते हैं : क्या उस समय मांस और मदिरा का इतना ही अधिक प्रचार था? क्या चन्द्रगुप्त आदि यशस्वी राजा और उनके विद्वान् पुरोहित ऐसे ही धूर्त थे जैसे कि राहुल जी ने अंकित किये हैं? क्या गण-तन्त्र वास्तव में ही इतने सुव्यवस्थित थे—उनके कर्मान्त आदि भी क्या ऐसे ही सम्मिलित थे—इन गणों में वर्ण-भेद क्या एकदम नहीं था? क्या आधुनिक सोवियत् विधान का उस युग के इतिहास पर आरोप नहीं किया गया?

इन सबका सप्रमाण उत्तर तो मैं नहीं दे सकता—पर ऐसी धारणा अवश्य बनती है कि राहुल जी को अपने प्रतिपाद्य के प्रति इतना उत्कृष्ट आग्रह रहता है कि वे उसके अनुकूल तथ्यों को मोड़ने में संकोच नहीं करते—उनके विषयों में प्रायः जल्दबाजी रहती है।

इसके अतिरिक्त कुछ बातें तो निस्संदेह ही आपत्तिजनक हैं—उदाहरण के लिए जिस उदारता से राहुल जी के पात्र एक दूसरे पर चुम्बनों की बौछारें करते हैं वह अनैतिक न भी मानी जाय, परन्तु अभद्र अवश्य है—वास्तव में रस की उद्भावना करने का यह सस्ता उपाय इतने असंयम के साथ व्यवहृत किया गया है कि उससे अरुचि होने लगती है—इसी तरह एक जगह जोश में आकर नन्दा कहती है—"चाहे तो मेरी टांग के भीतर से जाओ या मुझे हराकर जाओ।" महावीर स्वामी और उनके उपदेशों का जो खाका खींचा गया है, उसमें स्पष्ट ही पर-धर्म-विद्वेष की गंध आती है।

जीवन-दर्शन

इन उपन्यासों का प्रतिपाद्य जीवन-दर्शन स्पष्ट रूप से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। उसमें आत्मा, परलोक, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक तत्वों का तीव्र निषेध करते हुए भौतिकवाद की प्रतिष्ठा है। त्याग, वैराग्य आदि काल्पनिक सुख-साधनों का तिरस्कार करते हुए स्वस्थ जीवन-उपभोग की स्वीकृति है। वैयक्तिक जीवन के ऊपर सामूहिक जीवन की

सफलता का दिग्दर्शन है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार राहुल जी राजतन्त्र और अध्यात्मवाद दोनों को एक ही सिद्धान्त की दो अभिव्यक्तियाँ मानते हैं—और स्पष्ट शब्दों में—उनकी धारणा है कि अध्यात्म की कल्पना राज-सत्ता को स्थिर रखने के लिये ही की गई है। निदान इन दोनों के विरुद्ध उनके संस्कार घोर विद्रोह कर उठते हैं। उनके सभी ग्रन्थों की तरह प्रस्तुत उपन्यासों में भी इन दोनों का कठोर प्रतिवाद किया गया है। राजा के लिए प्रायः रजुल्ला शब्द का प्रयोग इस घृणा का प्रमाण है! कुछ तो अन्तर में पड़े हुए संस्कारों के कारण और कुछ इसलिए भी कि उसका विधान गण-तन्त्रात्मक है, राहुल जी के मन में बौद्ध धर्म के प्रति अब भी आस्था वर्तमान है। 'सिंह सेनापति' का नायक अन्त में बुद्ध और संघ की शरण में चला जाता है। जय यौधेय में इस प्रकार की स्वीकृति तो नहीं है, परन्तु बुद्ध के अनात्मवाद और परिवर्तनवाद आदि का अनेक स्थानों पर गौरव गान करते हुए लेखक ने अपने जीवन-दर्शन की पुष्टि की है। यह कहाँ तक संगत है? अर्थात् राहुल जी का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और बुद्ध-प्रतिपादित अनात्मवाद कहाँ तक समान है? इस बात का अधिकार पूर्वक निर्णय तो कोई बौद्ध पण्डित ही कर सकता है, परन्तु धम्मपद का जो प्रचलित संस्करण आज उपलब्ध है, उसमें परलोकवाद का साधारण अर्थात् आध्यात्मिक अर्थ में ही स्पष्ट प्रयोग है।

इसके प्रतिकूल राहुल जी ने परलोकवाद की सर्वथा भौतिक व्याख्या की है। "मैं केवल 'बहुजन हिताय' काम को मानता हूँ—परलोकवाद केवल एक रूप में मानता हूँ—पुत्र पिता का परलोक है, पुत्र पिता का पुनर्जन्म है, पिता मरने से पहिले अपने शरीर द्वारा अपने मानसिक और शरीरिक संस्कार का एक अंश माता के शरीर में स्थापित करता है। माता उसमें अपना अंश मिलाती है और नौ मास गर्भ में रख उसे शिशु के रूप में अगले लोक, अगली पीढ़ी के लिए देती है। इसे मैं परलोक मानता हूँ।"—इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण और बौद्ध आचार्य आज भी अनेक सबल युक्तियों द्वारा उपर्युक्त व्याख्यान का खंडन करने को प्रस्तुत हो जायेंगे। परन्तु इसमें भी एक विशेष संगति है, यह अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। यह व्याख्यान भी अपने ढंग से सटीक और मनोग्राही है। और आज के वैज्ञानिक युग में अधिक ग्राह्य भी हो सकता है।

उपसंहार

अन्त में दो बात और कह दूँ। एक तो यह कि औपन्यासिक कला की न्यूनता होते हुए भी राहुल जी के ये दोनों ग्रन्थ (विशेषकर जय यौधेय हिन्दी के कथा-साहित्य में निश्चय ही एक विशेष गौरव के भागी होंगे। राहुल जी अपनी कमी को जानते मालुम पड़ते हैं और धीरे-धीरे वे इस कला का भी अर्जन कर रहे हैं—'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' का अन्तर इसका असंदिग्ध प्रमाण है। दूसरी यह कि हिन्दी की भाषा-शैली के विकास में इन उपन्यासों का योग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतीत के सांस्कृतिक ऐश्वर्य को अभिव्यक्त करने के लिए जिस समृद्ध और समर्थ शब्दावली का प्रयोग स्वर्गीय प्रसाद जी ने अपने नाटकों में आरम्भ किया था, राहुल जी ने उसको और भी अधिक श्री वृद्धि की है। वास्तव में इस क्षेत्र पर उनका अधिकार प्रसाद जी की अपेक्षा अधिक व्यापक है। वोट के लिए छन्द, बन्दरगाह के लिए पत्तन या तीर्थ, खेती के लिए कर्मान्त आदि कितने समर्थ शब्द हैं। इसी प्रकार आज की राजनीतिक और भौगोलिक शब्दावली के भी प्राचीन साहित्य के पर्याय देकर एक बहुत बड़ी क्षति की पूर्ति की गई है।

: १५ :

दिनकर के काव्य-सिद्धान्त

दिनकर वास्तव में प्रकृति और कर्म से आलोक नहीं हैं—वे विचारक कवि हैं। उनके इन लेखों में किसी विषय का साङ्गोपाङ्ग पर्यालोचन न होकर उसके प्रति कवि के अपने दृष्टिकोण का ही ओजस्वी वाणी में स्पष्टीकरण है। वैसे तो उन्होंने आधुनिक कविता की नवीनतम प्रवृत्तियों और समस्याओं को ही ग्रहण किया है, परन्तु उनका विवेचन करते हुए काव्य के मूल-गत सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण अनिवार्यतः हो गया है, मैंने अभी कहा कि दिनकर कर्मणा आलोचक नहीं हैं, वे कार्मिक साहित्यकार हैं। उनके निबन्धों में आलोचना की शास्त्रीय क्रम-बद्धता ढूँढ़ना व्यर्थ होगा, इसीलिए आप देखेंगे कि उन्होंने काव्य के स्वरूप के विषय में, उसकी परिभाषा आदि के विषय में प्रायः चर्चा ही नहीं की। कार्मिक साहित्यकार स्वरूप आदि की मीमांसा में नहीं पड़ता, उसको तो स्वीकृत सत्य मानकर चलता है।

दिनकर स्पष्टतः ही काव्य को जीवन की व्याख्या मानकर चलते हैं, परन्तु यह भी निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि यह व्याख्या कवि के वैयक्तिक दृष्टिकोण पर आश्रित रहती है "साहित्य को हम जीवन की व्याख्या मानते हैं किन्तु जीवन और उसकी इस व्याख्या के बीच एक माध्यम है जो व्याख्याता कवि या कलाकार का निजी व्यक्तित्व है। कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रगट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"+ उनकी यह मान्यता काव्य में व्यक्ति-तत्त्व और समाज-तत्त्व दोनों की स्वीकृति है। कहा जा सकता है कि इन दोनों के संयोग से ही दिनकर की जीवन-दृष्टि का निर्माण हुआ है। यहाँ मैंने संयोग शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर इसीलिए किया है कि इन दोनों तत्वों में वे अभी समन्वय नहीं कर पाये हैं, दोनों के बीच जैसे अभी द्वन्द्व मिटा नहीं है, और परिस्थिति और मनःस्थिति के अनुसार उनमें से कोई-सा एक कभी

+ मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४१

का ही अधिक महत्त्व है; क्योंकि दोनों के बीच यह एक प्रकार का सेतु है। दिनकर के इस संग्रह की मूल समस्या यही है, अपने लेखों और भाषणों में वे पहलू बदल-बदल कर इसी से जूझे हैं। इस प्रसंग के अन्तर्गत पहले तो यही प्रश्न उठता है कि कला अथवा काव्य के लिए उद्देश्य की अपेक्षा भी है कि नहीं। चिंतकों का एक वर्ग कहता है कि कला अपना उद्देश्य स्वयं है, और जब आप उससे पूछें कि क्या आनन्द भी उसका उद्देश्य नहीं है तो इसका उत्तर या तो यह मिलेगा कि 'नहीं, आनन्द उसकी विधि है, उद्देश्य नहीं है', या फिर यह कि 'कविता का आनन्द' निरुद्देश्य होता है। दिनकर का मत इस विषय में असंदिग्ध है। वे कला या कविता को निश्चित रूप से सोद्देश्य मानते हैं: "सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती; क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती।" (पृष्ठ ६०) परन्तु यह उद्देश्य क्या है, दूसरा प्रश्न स्वभावतः ही यह उठता है। इसके उत्तर में दिनकर एक स्थान पर लिखते हैं: "व्यापक मतभेदों के होते हुए भी अधिक लोग यह मानते हैं कि कविता का उद्देश्य आनन्द का सर्जन है।" (पृ० १४२)

"कविता हमें रुक्ष और स्थूल से हटाकर अलौकिक तथा मधुर आनन्द के देश में पहुँचाती है और इस प्रकार हम गद्य की नियमित शुष्कता से जितना अधिक ऊपर उठ सकें कवि-कला की सफलता उतनी अधिक मानी जानी चाहिए। (पृ० १४६)"—और स्पष्ट शब्दों में—"फूल हों या राजनीतिक समस्याएं कवि का लक्ष्य आनन्दानुभूति होता है; प्रचार उसके लक्ष्य का कोई अंश नहीं हो सकता। उसका काम संसार को कुछ सिखाना नहीं, प्रसन्न करना है।" यह निर्भ्रान्त शब्दों में काव्य में आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है, परन्तु लेखक ने आनन्द की परिधि को अत्यन्त व्यापक माना है, आनन्द में केवल जीवन मधुरता और कोमलता ही नहीं, वरन् उसके समस्त संघर्ष अपनी सम्पूर्ण कटुता के साथ समा जाते हैं। ऊपर के उद्धरण में फूल के साथ राजनीतिक समस्याएं जोड़कर उसने यही व्यक्त किया है।

फूलों को देखना, शहीदों की समाधि पर आँसू बहाना, हृदयविदारक दृश्यों को सफलता-पूर्वक चित्रित करना, अपने हृदय के क्रोध, विश्वास, भय

एवं ग्लानि के भावों को सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त करना. यह सभी कुछ आनन्द के अन्तर्गत आता है। आनन्द से तात्पर्य ऐन्द्रिय-विलास और सनसनाहट से न होकर जीवन के स्वस्थ आनन्द का है, जिसके अन्तर्गत शृङ्गार के साथ ही हास्य, करुण, वीर, रौद्र, अद्भुत, शांत; वीभत्स और भयानक भी आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त लेखक की उदार दृष्टि आध्यात्मिक अनुभूतियों को भी आदर की दृष्टि से देखती है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि उसका पूरा बल जीवन और उसकी अनुभूतियों पर ही है। इस प्रकार वह आनन्द और कल्याण, दूसरे शब्दों में सुन्दर और शिव को एक रूप कर देखता है : "सुन्दर काव्य का प्रेय है परन्तु उपयोगी भी उसका श्रेय है। इसलिए बिना इन दोनों का ग्रंथि-बन्धन हुए सत्काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है।" "कला का उद्देश्य जीवन के उपयोगी तत्त्वों का संयोग उन तत्त्वों से स्थापित करना है जो हमें आनन्द देते हैं।"

उपयोगी की व्याख्या करते हुए दिनकर ने समकालीन भौतिक जीवन के विकास पर बल दिया है, राजनीति और समाज-नीति को भी वे काव्य की भूमि में स्थान देने को तैयार हैं बशर्ते कि उनसे सौन्दर्य की उद्‌बुद्धि हो। पर सिद्धान्तों के प्रचार, पार्टी के प्रस्ताव या हुकूमत के परवाने से कला का कोई सम्बन्ध नहीं है, इस विषय में उनकी सम्मति सर्वथा निर्भ्रान्त है। राजनीति काव्य की विरोधी नहीं है, परन्तु साथ ही उसकी निर्देशिका भी नहीं हो सकती। वास्तव में ये दोनों जीवन की एक ही अवस्था की अनुभूति की भिन्न-भिन्न पद्धतियां हैं। स्वयं लेखक के शब्दों में 'कवि का काम किसी राजनीतिक दल के सिद्धान्तों की विवेचना नहीं प्रत्युत उन अवस्थाओं की काव्यात्मक अनुभूति व्यक्त करना है जिनके भीतर से राजनीतिक सिद्धान्त भी पैदा होते हैं।" परन्तु उपयोगिता की परिधि वे यहीं तक नहीं मानते। अपने समाज के भौतिक जीवन से प्रेरणा प्राप्त करना, और फिर उलट कर उसको प्रेरणा देना कवि का धर्म है इसमें सन्देह नहीं, और इस धर्म का पालन करने वाला कवि धन्य है, किन्तु "जिस कवि ने मानवीय चेतना की सीमा विस्तृत की है, कल्पना के पर फैलाकर मानव-मन का विस्तार नापा है, जीवन के ईथर में विहार करते हुए मधु और अमृत के गीत गाए हैं, मनुष्य को ऊर्ध्वगामी होने का संकेत दिया है, और अपनी अनुभूति के सुन्दर-से-सुन्दर क्षणों का इतिहास साहित्य देवता को अर्पित किया है, उसे (भी) क्यों लज्जित होना चाहिए ?" पहला यदि जीवन की

शक्ति देता है तो दूसरा वृत्तियों का परिष्कार करता हुआ चरित्र का संस्कार करता है। इस प्रकार दिनकर की काव्य-दृष्टि में वाञ्छित औदार्य मिलता है जो एक ओर उन्हें निष्प्राण कलावादियों और दूसरी ओर प्रगतिवादियों से पृथक् कर काव्य की समतल और स्वच्छ भूमि पर आसीन करता है।

दिनकर के ये सिद्धांत पुस्तकों अथवा घोषणा-पत्रों से ग्रहण किये हुए नहीं हैं, वे केवल विचारित ही नहीं हैं, वरन् अनुभूत भी हैं। पीछे एक प्राणवान व्यक्तित्व का बल होने के कारण उनके सिद्धान्तों में बौद्धिक रूढ़ता न होकर भावों की उदग्र प्रेरणा सर्वत्र वर्तमान मिलती है। वास्तव में उनके व्यक्तित्व की भाँति उनके सिद्धान्त भी अभी क्रमशः निर्माण-पथ पर हैं। यह उनके व्यक्तित्व की सजीवता का प्रमाण है कि उन्होंने किसी एक विचार-पद्धति को नतशिर होकर स्वीकार नहीं कर लिया, वरन् अपने इस संक्राति-युग की द्वन्द्वमयी चेतना को उसके सहज रूप में ग्रहण किया है। भारतीय आदर्शवाद और विदेश के भौतिकवाद (और निश्चित शब्दावली में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहिये) ने हमारी पीढ़ी के लोगों के मनों में जो एक खिचाव पैदा कर दिया है, दिनकर ने उसको पूरी ईमानदारी से ग्रहण किया है, और उतनी ही ईमानदारी से व्यक्त भी किया है। उनके संस्कारों पर भारतीय आदर्शवाद की छाया है, परन्तु उनका चेतन मन सामाजिक कर्तव्य के प्रति जागरूक है। भारतीय आदर्शवाद उन्हें आकाश की ओर खींचता है, परन्तु बिहार का उत्क्रान्त वातावरण उन्हें धरती से अलग नहीं होने देता। इसी द्विविधा के कारण उनकी उक्तियों में कहीं-कहीं बड़ा विचित्र विरोध मिलता है। अपने 'काव्य-समीक्षा और दिशा-निर्देश' निबंध में उन्होंने कविता को शुद्ध कला माना है—यहाँ तक कि उसमें वस्तुतत्त्व की अपेक्षा अभिव्यञ्जना को अधिक महत्त्व दे दिया है, और उधर व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा करते हुए वे सीधे जन्म-जात प्रतिभा की अनिवर्चनीयता तक पहुँच गए हैं। (१)

परन्तु इसके विपरीत 'प्रगतिवाद, समकालीनता की व्याख्या।' और 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' आदि भाषणों में उन्होंने कविता की भौतिक तथा सामाजिक प्रकृति की अत्यन्त आवेग-पूर्ण घोषणा की है। (२)

पाद टिप्पणी—"कविता कला है, और जहां कला है वहां हमें "क्या" की अपेक्षा "कैसे" पर अधिक ध्यान देना पड़ेगा, जब कवि-प्रतिभा इस "कैसे"

यह द्विविधा केवल दिनकर में ही नहीं, उनके सभी सहयोगी कवियों—नरेन्द्र, अञ्चल, सोहनलाल द्विवेदी आदि में उतनी ही स्पष्ट है। परन्तु अन्तर केवल एक है—नरेन्द्र ने समाजवाद की जीवनदृष्टि को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लिया है, अञ्चल, ने भी कम-से-कम दोनों हाथों से उसे पकड़ अवश्य लिया है, इसलिए ये दोनों सैद्धांतिक विवेचन करते हुए अपनी द्विविधा को समाजवाद की बौद्धिक रूढ़ियों में छिपा लेने का सफल-असफल प्रयत्न कर सकते हैं। सोहनलाल द्विवेदी भी गांधीवाद का दम भरते हैं, और उनकी दुहाई काफ़ी ज़ोर-शोर से देते रहते हैं, परन्तु उनके विचारों में बौद्धिक शक्ति और सचाई दोनों ही बहुत कम हैं। दिनकर का व्यक्तित्व अनुभूति-प्रधान है उसने पूर्वी भारत की भावोष्णता को उत्तराधिकार में पाया है, अतएव यह द्विविधा उसमें अधिक व्यक्त है—गांधीवाद के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उसने कहीं भी उसको बौद्धिक रूढ़ियों में इसे छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। इस द्विविधा को मिटाने की एक और विधि हो सकती थी आत्म-चिंतन। चिंतन की मन्द-मन्द आग में गलकर इसके कोने एकसार हो सकते थे, परन्तु दिनकर की जवानी अभी इसे शायद गवारा नहीं करती।

में दक्ष है तब हर चीज़ उसके स्पर्श से काव्य बन सकती है।" (पृ० १४४) ××× कवि-प्रतिभा एक ऐसा ही + (अनिर्वचनीय और ईश्वरीय) विलक्षण तत्त्व है, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अब तक नहीं हो सका। (पृ० १४७) काव्य को इस गोतीत माया के कारण तो शास्त्रीय नियमों से नहीं बांधा जा सकता।

+कोष्ट—बद्ध शब्द मेरे हैं (पृ० १४८)

पाद टिप्पणी—(२) दरअसल साहित्य, राजनीति, दर्शन और विज्ञान सब के सब एक ही जीवन के पूरक अंश हैं, और उनमें से मूलतः कोई भी किसी का विरोधी नहीं है। ×× जीवन की एक ही अवस्था की भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ पद्धतियों की भिन्नता के क्रम से कविता, राजनीति और विज्ञान बन जाती हैं।

(पृ० १२६)।

: १६ :

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का ज़ोर बढ़ा, और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीनिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेक रूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों

का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमाएं, रेखाएं एकांत दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव-भूमिका पर एकांततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में ही चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी। (अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका)। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिरगतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रहपूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है। काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के प्राप्त पर कोई युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अङ्गरेज़ी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ

: १६ :

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता

यों तो प्रत्येक युग की ही कविता प्रयोगवादी होती है क्योंकि वह वस्तु और शैली दोनों में अपनी पूर्ववर्ती कविता से भिन्न प्रयोग करके ही अपने आविर्भाव की घोषणा करती है। परन्तु इन दिनों यह विशेषण आधुनिक कविता की एक प्रवृत्ति विशेष के लिए प्रायः रूढ़-सा हो गया है। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में हिन्दी के कवियों में छायावाद के भावतत्त्व और रूप-आकार दोनों के प्रति एक प्रकार का असंतोष-सा उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ़ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक तथा सीमित काव्य-सामग्री एवं शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने में सफल नहीं हो सकते। निसर्गतः उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई—भाव-वस्तु में छायावाद की तरल-अमूर्त अनुभूतियों के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त अनुभूतियों की मांग हुई—दूसरी ओर सुनिश्चित बौद्धिक धारणाओं का ज़ोर बढ़ा, और शैली-शिल्प में छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल काव्य-सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त-सघन और नानारूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ में इस प्रतिक्रिया का एक समवेत रूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों में इन कवियों के दो वर्ग पृथक् हो गये—एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन से साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि-कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीनिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिक वाद की दासता स्वीकार नहीं की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा आज के अनेक रूप, अस्थिर, चिर-प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे को प्रयोगवादी नाम दिया गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों

का पार्थक्य सर्वथा स्थिर और सीमाएं, रेखाएं एकांत दृढ़ नहीं हैं। साहित्यिक वर्ग-विभाजन में यह कभी सम्भव ही नहीं होता—अनेक प्रगतिवादी शैली-शिल्प के प्रयोगों के प्रति अत्यन्त जागरूक हैं, उधर अनेक प्रयोगवादियों की भाव-भूमिका पर एकांततः साम्यवाद का प्रभाव है। अन्तर केवल प्राथमिक उद्देश्य का है—पहला वर्ग जहाँ सामाजिक चेतना की जागृति को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानता है, दूसरा अर्थात् प्रयोगवादी वर्ग वहाँ वस्तु और शैली दोनों में ही चिर-प्रयोगशीलता को प्राथमिकता देता है।

प्रयोगवादी कविता का मूल तत्त्व स्वभावतः ही काव्य-विषयक प्रयोग अथवा अन्वेषण है। "दावा केवल यही है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है × × × बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राहों के अन्वेषी। (अज्ञेय, तार सप्तक की भूमिका)। इस वर्ग के कवियों का विश्वास है कि जीवन की ही तरह काव्य भी एक चिरगतिशील सत्य है जिसकी वास्तविक साधना शोध, अन्वेषण एवं प्रयोग है। अतएव वस्तु और शैली दोनों ही के क्षेत्र में ये काव्य के पूर्ववर्ती उपादानों को सन्देह से देखते हैं और नवीन उपकरणों को आग्रहपूर्वक ग्रहण करते हैं। जीवन और काव्य दोनों में ही एतादृशत्व के ये घोर विरोधी हैं। यह इनको सर्वथा अमान्य है कि किसी भी समय ऐसी अवस्था आ सकती है जब कि जीवन का सम्पूर्ण सत्य प्राप्त हो सकता है—और फिर उसी की पुनरावृत्ति शेष रह जाती है। यही बात काव्य पर भी लागू होती है! काव्य का परम तत्त्व प्रत्येक युग के लिए सदैव प्राप्य ही रहता है—अपने पूर्ववर्ती युग के प्राप्त पर कोई युग जीवित नहीं रह सकता।

प्रयोगवादी कविता का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। अङ्गरेज़ी साहित्य में भी प्रयोगवादी कविता में रोमानी प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह का एक तीखा स्वर मिलता है, परन्तु वह व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। हिन्दी में यह प्रतिक्रिया अधिक स्थिर और स्पष्ट है। भाव-क्षेत्र में छायावाद की अतीन्द्रियता और वायवी सौन्दर्य-चेतना के विरुद्ध एक वस्तुगत मूर्त और ऐन्द्रिय चेतना का विकास हुआ

और सौन्दर्य की परिधि केवल, मसृण और मधुर के अतिरिक्त परुष, अनगढ़ और 'भदेस' का समावेश किया गया। वास्तव में नए कवि ने अतिशय-कोमलता और मार्दव से ऊबकर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया :

निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टांगों पर खड़ा नत-ग्रीव
धैर्य-धन गदहा।

यहां तो केवल वस्तु में ही भदेसपन है क्योंकि इनका लेखक अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिमार्जन के कारण भाषा को भदेस नहीं बना पाया है। अन्तर्बाह्य भदेसपन के लिए डा० रामविलास और श्री० केदार, या हंस में नित्यप्रति छपने वाली कविताएं आदर्श हैं :

सरग था ऊपर
नीचे पताल था
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था
दिल दिमाग़ भुस का, खद्दर का खाल था।

(नागार्जुन-हंस)

अपने दृष्टिकोण की सफ़ाई में उसने कहा कि सौन्दर्य को केवल-मधुर कोमल में सीमिति कर देना अत्यन्त संकुचित दृष्टि का परिचायक है। सौन्दर्य-चेतना एक अत्यन्त व्यापक चेतना है और गत्यात्मक भी, जो परिस्थित के अनुसार विकसित होती रहती है। जिस प्रकार मधुर-कोमल उसका एक रूप है उसी प्रकार अनगढ़ और परुष भी आज के जीवन में अनगढ़ और भदेस हमारे अधिक निकट है इसलिए उसकी चेतना हमारे लिए अधिक वास्तविक और स्वाभाविक है।

आज का जीवन सर्वथा विश्रृङ्खलित और अव्यवस्थित है; जीवन-मूल्यों की इतनी भयंकर अराजकता पहले शायद ही कभी सामने आई हो। राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक और दार्शनिक उलझनों ने मिलकर जीवन में अगणित गुत्थियां डाल दी हैं—जिनमें कि आज का विचारक फंस कर रह जाता है। इस प्रकार के राजनीतिक विप्लव तो पहले आये, परन्तु मानव-चेतना पर उनका इतना सर्वव्यापी प्रभाव नहीं पड़ा। पर आज तो जैसे समाज और सभ्यता का आधार ही भंग हो गया है।

इसका कारण यह है कि पहले तो राजनीति और संस्कृति प्रायः स्वतंत्र थीं, किन्तु आज वे एक दूसरे में गुँथ गई हैं। राजनीतिक विप्लव ने भयंकर आध्यात्मिक विप्लव को भी जन्म दे दिया है, विश्वास का सूत्र सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया है। और आज की सबसे बड़ी दुर्घटना यही सर्वग्राही अविश्वास है। आज न अध्यात्म-दर्शन में विश्वास है, न भौतिक दर्शन में। विज्ञान ने ईश्वर विश्वास तो हिला दिया है—परन्तु वह अपने में विश्वास जमाने में असफल रहा है। समाज की प्राचीन व्यवस्था भंग हो गई है परन्तु नवीन व्यवस्था दूर तक नहीं दिखाई देती। राजनीति में हिंसा-अहिंसा, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, सर्वाधिकारवाद का, और अर्थनीति में पूँजीवाद और समाजवाद का, दर्शन के क्षेत्र में आदर्शवाद और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आदि का, और मनोविज्ञान में चेतन और अवचेतन, अचेतन आदि का ऐसा कुहराम मचा हुआ है कि आज के मानव की चेतना एकांत धूमिल और तमसाच्छन्न हो गई है। ऐसी अवस्था में किसी स्थिर रोमानी सौन्दर्य्य-बोध को ग्रहण कर लेना असम्भव है। यदि ऐसा किया जाता है तो वह वास्तविक और हार्दिक नहीं है—वह केवल काल्पनिक अथवा भावगत है। छायावादी सौन्दर्य्य-बोध के विरुद्ध इन कवियों का यही प्रबल आक्षेप है—और ये उसके प्रतिकार रूप आज के आच्छन्न जीवन के अनुकूल संकुल सौन्दर्य्य-बोध को ही वास्तविक एवं हार्दिक मानकर चलते हैं।

जीवन-मूल्यों की यह अव्यवस्था नवीन काव्य में अत्यन्त मुखर है। आध्यात्मिक, सामाजिक, और साहित्यक उपादानों में लघु गुरु के अन्तर को यह कवि झटके के साथ अस्वीकार कर देता है—और सूर्य और मेंढक, चांदनी रात और मूत्र-सिंचित वृक्ष में खड़े हुए गदहे, नूपुर-ध्वनि और चप्पल, कांट, क्रिक्टे और खाली चाय की प्याली को साथ-साथ ग्रहण करता है।

१. तू सुनता रहा मधुर नूपुर-ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल !

(भारतभूषण)

२. कब तक मग़ज़ मारता बैठूँ तुमसे कांट और बोज़ाके,
तर्क घुला जाता है बांके, उधड़ रहे सीने के टांके।
जीवन धोखा हो तो हो, यह प्यार कभी जोखों से खाली
यह सब एक विराट व्यंग है, मैं हूँ सच औ चा की प्याली।

(माचवे)

यहीं से प्रयोगवादी कविता का वस्तु-परक दृष्टिकोण ज़ोर पकड़ता है। प्रयोगवादी कवि का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक-से-अधिक वस्तु-गत बनाये, वस्तु पर अपने मन का रंग न चढ़ाकर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यञ्जना को अनूदित करे। आज के हिन्दी कवि के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि वह छायावाद की अतिशय भावपरकता में पगा हुआ है। केवल केदार, शमशेरसिंह और अंशतः अज्ञेय ही इसमें सफल हो सके हैं। कारण यह है कि छायावाद के विरुद्ध उत्कट चेतना रखते हुए भी इनमें अधिकांश कवि उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये।

वास्तव में देखा जाय तो इन कवियों के लिए अपने व्यक्तित्व से बचना सम्भव ही नहीं है। इनमें से अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति एकांत अन्तर्मुखी है और वे अपने मन की निविड़ता में उलझे हुए हैं—सबसे अधिक अज्ञेय। मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रभाववश अवचेतन का अध्ययन इनकी कविता का मुख्य विषय है। अवचेतन की काम-कुण्ठाओं का प्रतीकों द्वारा यथा-तथ्य चित्रण अज्ञेय और गिरिजाकुमार में अत्यन्त स्पष्ट है और वैसे अन्य कवि भी इससे मुक्त नहीं हैं। छायावाद में भी यह प्रवृत्ति अत्यधिक प्रबल थी। परन्तु दोनों की चेतना में काफ़ी अन्तर है। छायावाद का कवि जहाँ अनजाने ही अपनी कुण्ठाओं को काम-प्रतीकों द्वारा [प्रधानतः प्रकृति-प्रतीकों द्वारा] सहज रूप में व्यक्त करता था वहाँ प्रयोगवादी कवि के प्रतीक-विधान में अवचेतन-विज्ञान का सचेष्ट उपयोग रहता है। इस प्रकार इस कविता में व्यक्तित्व की निविड़ताओं को वैज्ञानिक प्रतीकों द्वारा वस्तुगत रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न रहता है, और एक ऐसी बौद्धिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जहाँ वस्तु-परक और व्यक्ति-परक दृष्टिकोण प्रतिद्वन्द्वी न रहकर साधक-साध्य बन जाते हैं। कवि अपने अवचेतन के अर्धव्यक्त अनुभव-खंडों को, जो एकांत व्यक्तिगत होते हैं, यथावत् वस्तु रूप में अङ्कित करने का प्रयत्न करता है। यथावत् अङ्कन का यह प्रयत्न काव्य की बिम्ब-ग्रहण पद्धति के विपरीत पड़ता है। इसमें विशेष की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति का इतना उत्कट आग्रह रहता है कि कवि साधारणीकरण नहीं कर पाता—वरन् एक प्रकार से वह साधारणीकरण को अनावश्यक ही मानता है। वह अपने विशिष्ट अव्यवस्थित भाव-खंडों को उसी अव्यवस्थित रूप में प्रतीकों द्वारा अनूदित करने का प्रयत्न करता है। उसका अभीष्ट रहता है अवचेतन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति—अतएव वह निकटतम प्रतीकों का प्रयोग करता

है। अवचेतन भावखंडों के पास पहुँचते-पहुँचते ये प्रतीक स्वयं भी अर्धव्यक्त और निविड़ होते चले जाते हैं। परन्तु इसको वह सर्वथा स्वाभाविक एवं अनिवार्य मानता है, क्योंकि उसका मत है कि अर्धव्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण व्यक्त प्रतीक अवांछित हैं। वे श्रोता या पाठक को अभिप्रेत भाव-खंड का संवेदन न कराकर उसके मन में किसी भिन्न भाव-खड अथवा धारणा की उद्‌बुद्धि करते हैं। अतएव वह अर्धव्यक्त एवं असम्बद्ध प्रतीकों का सचेष्ट प्रयोग करता है और अपने इस प्रयत्न में मनोविश्लेषण शास्त्र की 'मुक्त-विचार प्रवाह' 'स्वप्न-चित्र' आदि पद्धतियों से प्रत्यक्ष सहायता ग्रहण करता है।

परिणाम-स्वरूप एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है। छायावाद के रंगीन कल्पना-वैभव और सूक्ष्म तरलभावना चिंतन के स्थान पर यहाँ ठोस बौद्धिक तत्त्व क। बोझीलापन है, परन्तु स्मरण रहे कि ये रचनाएं प्राचीन दार्शनिक अथवा चिंतन-विचार-प्रधान कविताओं की परम्परा में नहीं आतीं। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका, अथवा इधर प्रसाद महादेवी आदि की दार्शनिक कविता और नवीन प्रयोगवादी कविता में कोई साम्य नहीं है। उन कविताओं में जहाँ दर्शन अथवा विचार को राग का विषय बनाया गया है वहाँ इन कविताओं में प्रायः रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। प्राचीन कविता में विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध था, पर इस कविता में विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध है। वास्तव में इस कविता का मुख्य उपादन-साधन बौद्धिक धारणाएं (Intell-ectual concepts) हैं जो प्रायः विज्ञान, राजनीति-शास्त्र, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की उपजीवी हैं।

यहाँ तक तो हुई भाव-वस्तु की बात। शैली-शिल्प के क्षेत्र में प्रयोगवाद का आग्रह और भी उत्कट है। "जो व्यक्ति का अनुभव है उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।" इस क्षेत्र में प्रथम विशेषता है भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग। प्रयोगवादी शब्द की प्रचलित अर्थ-व्यंजना को सामान्यतः ग्रहण करना पसन्द नहीं करता। अपने विशिष्ट अनुभव को व्यक्त करने के लिए वह साधारण शब्दार्थ को असमर्थ पाता है, इसलिए वह उसका विशिष्ट प्रयोग करता है-

अर्थात् "शब्द के साधारण अर्थ से बड़ा अर्थ उसमें भरना चाहता है।" उसके मन में यह विश्वास बैठ गया है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ रूढ़ हो गई हैं अतएव वह भाषा की क्रमशः संकुलित होती हुई केंचुल फाड़कर उसमें नया, अधिक व्यापक और सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है।" इसके लिए वह तरह-तरह के प्रयोग करता है : एक तो विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र, बाज़ार, गाँव, गलीकूचे सभी जगह से शब्द एकत्र करता हुआ अपने शब्द-भंडार को व्यापक बनाता है; दूसरे शब्दों का विचित्र और सर्वथा अनर्गल प्रयोग करता है; और तीसरे अपने अप्रस्तुत-विधान को अत्यन्त असाधारण रूप देने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त वह भाषा की व्यंजना और समास-शक्ति पर इतना भार लादने की चेष्टा करता है कि वह अस्त-व्यस्त हो जाती है, और उसकी अर्थ-व्यंजना जवाब दे देती है! अपने उस 'बड़े अर्थ' को पाठक के मन में उतार देने के लिए भाषा के साधन अपर्याप्त ठहरते हैं, निदान उसे इतर साधनों की शरण लेनी पड़ती है—"भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतों, अङ्कों और सीधी-तिरछी लकीरों, छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उलटे अक्षरों, लोगों और स्थानों के नामों, अधूरे वाक्यों" की शरण लेनी पड़ती है। या फिर, वह विदेश के प्रभाववादी, मूर्तिवादी आदि प्रयोगों का जाने-अनजाने में अनुकरण करता हुआ पाठक के सामने एक गोरखधन्धा उपस्थित कर देता है।

इसी प्रकार छंद-विधान में भी इस क्षुब्ध-संकुल भाव-वस्तु और तदनुरूप अस्त-व्यस्त काव्य-सामग्री को वहन करने योग्य नए-नए प्रयोग अनिवार्य हो गए। पुराने वर्णिक और मात्रिक छंदों की स्थिरता नये जीवन की अस्थिरता को वहन नहीं कर सकती। इसलिए प्रयोगवादी कवि प्रायः मुक्त छंद को ही ग्रहण करता है और उनमें वर्णिक और मात्रिक छंदों की भिन्न-भिन्न संयोजनाओं के अतिरिक्त पदांश और स्वर-पात आदि की भी व्यवस्था करता है। तुकों का वह अत्यन्त सूक्ष्म प्रयोग करता है, पूर्णान्त तुकों का तो वह प्रायः प्रयोग ही नहीं करता क्योंकि उसकी धारणा है कि पूर्णान्त तुक छंद-बंदों को अतिशय नादमय बना कर विषय की गम्भीरता के अनुरूप नहीं रहने देतीं। वह तुकान्त शब्दों का प्रयोग अन्त में न कर प्रायः पंक्ति के बीच में करता है—और उनके द्वारा लय को समृद्ध करता है। इसके अतिरिक्त अर्थ से स्वतन्त्र संगीत को भी वह अपने माध्यम के अनुकूल नहीं

पाता और उसका सतर्कता से बहिष्कार करता है। अर्थ के ही अनुकूल उसके छंद-विधान में एक प्रकार की गद्यमयी निविड़ता रहती है जो केदार, शमशेरसिंह-जैसे कवियों में अत्यन्त नीरस और जड़ हो जाती है; अज्ञेय अपने शब्द-चयन के बल पर उसकी गद्यमयता को तो अवश्य कम कर देते हैं, परन्तु संगीत का समावेश वे भी नहीं कर पाते। संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से गिरजाकुमार की सफलता स्तुत्य है। वास्तव में नये कवियों में मधुर-कोमल स्वर सौन्दर्य का व्यावहारिक ज्ञान उनको ही है।

उपर्युक्त विवेचन से एक बात जो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है वह है इन कविताओं की दुरुहता! ये कविताएं अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धांत रूप से भी दुरूह हैं। इस दुरूहता के अनेक कारण ऊपर दिये हुए हैं—जिसमें चार मुख्य हैं : भावतत्त्व और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक के बजाय बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग, उपचेतन मन के अनुभव-खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह, तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकांत वैयक्तिक और अनर्गल प्रयोग। इनके अतिरिक्त एक और भी कारण है और वह है इन सब का मूलवर्ती कारण—नूतनता का सर्वग्राही मोह, जो सदा परिचित को छोड़ अपरिचित की खोज में रहता है। ये कारण यदि आनुषंगिक होते तो इनको सफ़ाई के रूप में ग्रहण किया जा सकता था। परन्तु, इसके विपरीत ये सभी कारण सैद्धान्तिक हैं। और, मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यही है कि ये कारण सैद्धान्तिक हैं क्योंकि इनके आधार-भूत सिद्धांत ही सदोष हैं और मनोविज्ञान तथा काव्य-शास्त्र दोनों को कसौटियों पर ही खोटे उतरते हैं।

सबसे पहले भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत सम्बन्ध को लीजिये! काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-शास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वजनीन सत्य है, और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है; परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धितत्त्व रागतत्त्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य तत्त्व भी

उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदण्ड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है। दाँते, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद जिस-किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-गुण की क्षीणता का निर्णय दे दिया है। इसका निषेध करने का साहस टी. एस. इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न है। यह अन्तर जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा। इसका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में—उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग़ को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता, और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तर्चेतन अथवा उपचेतन की संवेदनाएं प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा अतिवाद मानते हुए भी इस बात का निषेध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनों की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक होती है—अतएव जन-साधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव-भर करके रह जाता है, कवि उनकी सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है, और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिए

उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यञ्जना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धांत की असंगति का अकाट्य प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रुद्ध हो जाने की बात भी काफ़ी विचित्र है। प्रयोगवादी की सफ़ाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ हैं। नई प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय—समाज—का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण का या तो प्रयत्न ही नहीं करता या फिर ऐसा प्रयत्न करता है जिसमें साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धांत में इससे कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि कवि के मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्हीं ने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आखिर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए—साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझ कर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन वास्तव में यह सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता-मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोगवादी सिद्धांत के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी

संवेदनाएं ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें विम्ब रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है, दूसरे वह उलझन को ही 'संवेनीय' मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि को अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को विम्बरूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का विम्ब बनाना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धिव्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है अर्थात् अपने संवेद्य को विम्ब-रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है—और न प्रस्तुत ही कर सकता है—और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

अब रह जाता है भाषा का एकांत वैयक्तिक प्रयोग जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भांति असंगत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है। उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है—शैली में शब्द-संयोजना, वाक्य-रचना, लक्षणा व्यञ्जना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द का कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराना, या अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्धव्यक्त अनुभव-खण्ड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से समझ भी जाय तो उसे गोरखधन्धे को खोलने का आनन्द मिल सकता है काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता। साधारण दुरूहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है लेकिन